वेदान्त-छन्दावली

सुखी शान्त होवो, मिटै मैल जी का ।
कहीं भी नहीं चिन्ह पावे दुई का ॥
जहाँ देखिये दर्श हो ईश ही का ।
करो पाठ वेदान्त-छन्दावली का ॥

भोला

ॐ श्रीगुरुदेवेनमः

निवेदन

श्रुति, स्मृति, इतिहासादिका सिद्धान्त है और सन्त महात्माओंका भी अनुभव है कि सम्यग्ज्ञान विना सर्वप्रकारके दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिरूप मोक्ष सिद्ध नहीं होता। पर-वैराग्य विना सम्यग्ज्ञान होना असंभव है। तत्त्व-विचार पर-वैराग्यका कारण है। आदर सत्कारपूर्वक तत्त्वके निरन्तर विचारसे संसारकी निस्सारता, विषय-भोगोंकी तुच्छता और सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मात्मभावकी दृढ़ अपरोक्षता सिद्ध होती है। वहुतसे सज्जनोंकी अभिलाषा थी कि हिन्दी भाषामें पद्यरूपसे कोई ऐसा वेदान्त प्रतिपादक छोटा-सा ग्रन्थ होना चाहिये, जिसका मनन करना भाषाप्रेमी सभी वर्ण-आश्रमोंके स्त्री-पुरुषोंके लिये सुलभ और बुद्धिग्राह्य हो। उन्हीं सज्जनोंकी इच्छानुसार वेदान्त-छन्दावली नामक इस छोटे-से ग्रन्थमें तत्त्वका अनेक प्रकारसे निरूपण किया गया है और पर-वैराग्यका स्वरूप भी दिखलाया है। आशा है कि यह छोटीसी पुस्तक मुमुक्षुओं और सत्यके जिज्ञासुओंको उपयोगी, तत्त्वदर्शी विद्वानोंके विनोदका कारण और हरिहर विश्वेश्वरकी प्रीतिका हेतु होगी। ॐ सर्वेषां शिवं भूयात्

सकल चराचरानुचर

भोला

निवेदन

गीताप्रेसके प्रेमियोंसे पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजीका नाम छिपा हुआ नहीं है। प्रेससे प्रकाशित 'कल्याण'में आजकल प्रतिमास आपके वेदान्त-सम्बन्धी गहनसे गहन विषयोंपर सरल भाषामें लेख छपा करते हैं। स्वामीजीने कृपापूर्वक इस पुस्तकके प्रचारकी आज्ञा दी है। इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। आशा है पाठक इससे लाभ उठावेंगे।

घनश्यामदास,
प्रकाशक

अवधूतशिरोमणि श्रीशुकदेवजी

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

वेदान्त छन्दावली

मंगलाचरणम्

निर्वासनं निराकाङ्क्षं सर्वदोषविवर्जितम् ।
निरालम्बं निरातङ्कं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

निर्ममं निरहंकारं समलोष्टाश्मकाञ्चनम् ।
समदुःखसुखं धीरं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

अविनाशिनमात्मानं ह्येकं विज्ञाय तत्त्वतः ।
वीतरागभयक्रोधं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥ ३ ॥

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित् ।
एवं विज्ञाय सन्तुष्टं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥ ४ ॥

समस्तं कल्पनामात्रं ह्यात्मा मुक्तः सनातनः ।
इति विज्ञाय संतृप्तं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥ ५ ॥

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं कामसंकल्पवर्जितम् ।
हेयोपादेयहीनं तं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥ ६ ॥

व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः ।
वीतशोकं निरायासं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥ ७ ॥

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ ।
उदासीनं सुखासीनं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥ ८ ॥

स्वभावेनैव यो योगी सुखं भोगं न वाञ्छति ।
यदृच्छालाभसन्तुष्टं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥ ९ ॥

नैव निन्दाप्रशंसाभ्यां यस्य विक्रियते मनः ।
आत्मक्रीडं महात्मानं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥ १० ॥

नित्यं जाग्रदवस्थायां स्वप्नवद्योऽवतिष्ठते ।
निश्चिन्तं चिन्मयात्मानं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥ ११ ॥

द्वेष्यं नास्ति प्रियं नास्ति नास्ति यस्य शुभाशुभम् ।
भेदज्ञानविहीनं तं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥ १२ ॥

जडं पश्यति नो यस्तु जगत्पश्यति चिन्मयम् ।
नित्ययुक्तं गुणातीतं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥ १३ ॥

योहि दर्शनमात्रेण पवते भुवनत्रयम् ।
पावनं जङ्गमं तीर्थं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥१४॥
सर्वपूज्यं सदा पूर्णं ह्यखण्डानन्दविग्रहम् ।
स्वप्रकाशं चिदानन्दं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥१५॥
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निर्मलं परमामृतम् ।
अनन्तं जगदाधारं ह्यवधूतं नमाम्यहम् ॥१६॥

हो जा अजर ! हो जा अमर !

(१)

जो मोक्ष है तू चाहता, विष सम विषय तज तात रे !
आर्जव क्षमा संतोष शम दम पी सुधा दिन रात रे !
संसार जलती आग है, इस आगसे झट भाग कर ।
आ शान्त शीतल देशमें, हो जा अजर, हो जा अमर ॥

(२)

पृथिवी नहीं, जल भी नहीं, नहिं अग्नि तू नहिं है पवन ।
आकाश भी तू है नहीं, तू नित्य है चैतन्यघन ॥
इन पाँचका साक्षी सदा, निर्लेप है तू सर्वपर ।
निज रूपको पहिचानकर, हो जा अजर, हो जा अमर ॥

(३)

चैतन्यको कर भिन्न तनसे, शान्ति सम्यक् पायगा ।
होगा तुरत ही तू सुखी, संसारसे छुट जायगा ॥
आश्रम तथा वर्णादिका; किञ्चित् न तू अभिमान कर ।
सम्बन्ध तज दे देहसे, हो जा अजर, हो जा अमर ॥

(४)

नहिं धर्म है न अधर्म तुझमें दुःख-सुख भी लेश ना ।
मनके सभी ये धर्म हैं, कर्तापना, भोक्तापना ॥
तू एक द्रष्टा सर्वका, इस दृश्यसे है दूरतर ।
पहिचान अपने आपको, हो जा अजर, हो जा अमर ॥

(५)

कर्तृत्वके अभिमान काले सर्पसे है तू डसा ।
नहिं जानता है आपको, भव-पाशमें इससे फँसा ॥
कर्ता न तू तिहुँ कालमें, श्रद्धा-सुधाका पानकर ।
पीकर उसे हो जा सुखी, हो जा अजर, हो जा अमर ॥

(६)

'मैं शुद्ध हूँ' 'मैं बुद्ध हूँ', ज्ञानाग्नि ऐसी ले बला ।
मत पाप, मत संताप कर, अज्ञान-वनको दे जला ॥
ज्यों सर्प रस्सी माँहि जिसमें भासता ब्रह्माण्डभर ।
सो बोध-सुख तू आप है, हो जा अजर, हो जा अमर ॥

(७)

अभिमान रखता मुक्तिका, सो धीर निश्चय मुक्त है ।
अभिमान करता बन्धका, सो मूढ बन्धन-युक्त है ॥
'जैसी मती, वैसी गती' लोकोक्ति यह सच मानकर ।
भव-बन्धसे निर्मुक्त हो, हो जा अजर, हो जा अमर ॥

(८)

आत्मा अमल, साक्षी अचल, विभु, पूर्ण, शाश्वत मुक्त है ।
चेतन, असंगी, निस्पृही, शुचि, शान्त, अच्युत तृप्त है ॥
निज रूपके अज्ञानसे, जन्मा करे, फिर जाय मर ।
भोला ! स्वयंको जानकर, हो जा अजर, हो जा अमर ॥

सुखसे विचर !

(१)

कूटस्थ हूँ, अद्वैत हूँ, मैं बोध हूँ, मैं नित्य हूँ ।
अक्षय तथा निस्संग आत्मा, एक, शाश्वत, सत्य हूँ ॥
नहिं देह हूँ, नहिं इन्द्रियाँ, हूँ स्वच्छसे भी स्वच्छतर ।
ऐसी क्रिया कर भावना, निःशोक हो सुखसे विचर ॥

(२)

"मैं देह हूँ" फाँसी महा, इस पाशमें जकड़ा गया ।
चिरकाल तक फिरता रहा, जन्मा किया फिर मर गया ॥
"मैं बोध हूँ" ज्ञानास्त्र ले, अज्ञानका दे काट सर ।
स्वच्छन्द हो, निर्द्वन्द्व हो, आनन्दकर, सुखसे विचर ॥

(३)

निष्क्रिय सदा निस्संग है, कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं ।
निर्भय, निरञ्जन है अचल, आता नहीं, जाता नहीं ॥
मत रागकर, मत द्वेषकर, चिन्तारहित हो जा निडर ।
आशा किसीकी क्यों करे, संतृप्त हो, सुखसे विचर ॥

(४)

यह विश्व तुझसे व्याप्त है, तू विश्वमें भरपूर है ।
तू वार है, तू पार है, तू पास है, तू दूर है ॥
उत्तर तुही दक्षिण तुही, तू है इधर, तू है उधर ।
दे त्याग मनकी क्षुद्रता, निःशंक हो सुखसे विचर ॥

(५)

निरपेक्ष द्रष्टा सर्वका, इस दृश्यसे तू अन्य है।
अक्षुब्ध है, चिन्मात्र है, सुख-सिन्धु-पूर्ण, अनन्य है॥
छः उर्मियोंसे है रहित, मरता नहीं, तू है अमर।
ऐसी किया कर भावना, निर्भय सदा सुखसे विचर॥

(६)

आकार मिथ्या जान सब, आकार बिनु तू है अचल।
जीवन मरण है कल्पना, तू एकरस निर्मल अटल॥
ज्यों जेवरीमें सर्प त्यों अध्यस्त तुझमें चर अचर।
ऐसी किया कर भावना, निश्चिन्त हो सुखसे विचर॥

(७)

दर्पण धरें जब सामने, तब ग्राम उसमें भासता।
दर्पण हटा लेते जभी, तब ग्राम होता लापता॥
ज्यों ग्राम दर्पण माँहि, तुझमें विश्व त्यों आता नजर।
संसारको मत देख, निजको देख तू सुखसे विचर॥

(८)

आकाश घटके बाह्य है, आकाश घट भीतर बसा।
सब विश्वमें है पूर्ण, तू ही बाह्य भीतर एकसा॥
श्रुति,सन्त, गुरुके वाक्य ये सच मान रे विश्वास कर।
भोला! निकल जग-जालसे, निर्बन्ध हो सुखसे विचर॥

आश्चर्य है ! आश्चर्य है !!

(१)

छूता नहीं मैं देह फिर भी देह तीनों धारता।
रचना करूँ मैं विश्वकी, नहिं विश्वसे कुछ वासता॥
कर्तार हूँ मैं सर्वका, यह सर्व मेरा कार्य है।
फिर भी न मुझमें सर्व है, आश्चर्य है ! आश्चर्य है !!

(२)

नहिं ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेयमेंसे एक भी है वास्तविक।
मैं एक केवल सत्य हूँ, ज्ञानादि तीनों काल्पनिक॥
अज्ञानसे जिसमाँहि भासे ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय है।
सो मैं निरञ्जन देव हूँ, आश्चर्य है ! आश्चर्य है !!

(३)

है दुःख सारा द्वैतमें, कोई नहीं उसकी दवा।
यह दृश्य सारा है मृषा, फिर द्वैत कैसा वाह, वा !
चिन्मात्र हूँ मैं एकरस, मम कल्पना यह दृश्य है।
मैं कल्पनासे बाह्य हूँ, आश्चर्य है ! आश्चर्य है !!

(४)

नहिं बन्ध है नहिं मोक्ष है, मुझमें न किञ्चित् भ्रान्ति है।
माया नहीं, काया नहीं, परिपूर्ण अक्षय शान्ति है॥
मम कल्पना है शिष्य मेरी कल्पना आचार्य है।
साक्षी स्वयं हूँ सिद्ध मैं, आश्चर्य है ! आश्चर्य है !!

(५)

सशरीर सारे विश्वकी, किंचित् नहीं सम्भावना।
शुद्धात्म मुझ चिन्मात्रमें, बनती नहीं है कल्पना॥
तिहुँ काल, तीनोंलोक, चौदह भुवन माया-कार्य है।
चिन्मात्र मैं निस्संग हूँ, आश्चर्य है! आश्चर्य है!!

(६)

रहता जनोंमें, द्वैतका फिर भी न मुझमें नाम है।
दंगल मुझे जंगल जँचे, फिर प्रीतिका क्या काम है॥
'मैं देह हूँ' जो मानता, सो प्रीति करि दुख पाय है।
चिन्मात्रमें भी सङ्ग हो, आश्चर्य है! आश्चर्य है!!

(७)

नहिं देह मैं, नहिं जीव मैं, चैतन्यघन मैं शुद्ध हूँ।
बन्धन यही मुझमाँहि था, थी चाह मैं जीता रहूँ॥
ब्रह्माण्डरूपी लहर उठ उठ कर विला फिर जाय है।
परिपूर्ण मुझ सुख-सिन्धुमें, आश्चर्य है! आश्चर्य है!!

(८)

निस्सीम मुझ चित्सिन्धुमें जब मन-पवन हो जाय लय।
व्यापार लय हो जीवका, जग नाव भी होवे विलय॥
इस भाँतिसे करके मनन, नर प्राज्ञ चुप हो जाय है।
भोला न अबतक चुप हुआ, आश्चर्य है! आश्चर्य है!!

प्राज्ञ-वाणी

(१)

'मैं हूँ निरञ्जन शान्त, निर्मल, बोध, मायासे परे।
हूँ कालका भी काल मैं, मन, बुद्धि, कायासे परे॥
मैं तत्त्व अपना भूलकर, व्यामोहमें था पड़ गया।
श्रुति, संत, गुरु, ईश्वरकृपा, अब मुक्त बन्धनसे भया॥

(२)

जैसे प्रकाशूँ देह मैं, त्योंही प्रकाशूँ विश्व सब।
हूँ इसलिये मैं विश्व सब, अथवा नहीं हूँ विश्व अब॥
सशरीर सारे विश्वका है, त्याग मैंने कर दिया।
सब ठौर मैं ही दीखता हूँ, ब्रह्म केवल नित नया॥

(३)

जैसे तरंगें, झाग, बुद्बुद्, सिन्धुसे नहि भिन्न कुछ।
मुझ आत्मसे उत्पन्न जग, मुझसे नहीं है अन्य कुछ॥
ज्यों तन्तुओंसे भिन्न पटकी है नहीं सत्ता कहीं।
मुझ आत्मसे इस विश्वकी त्यों भिन्न सत्ता है नहीं॥

(४)

ज्यों ईखके रसमाँहि शक्कर व्याप्त होकर पूर्ण है।
आनन्दघन मुझ आत्मसे सब विश्व त्यों परिपूर्ण है॥
अज्ञानसे ज्यों रज्जु अहि हो, ज्ञानसे हट जाय है।
अज्ञान निजसे जग बना, निज ज्ञानसे मिटजाय है॥

(५)

जब है प्रकाशक तत्त्व मम, तो क्यों न होउँ प्रकाश मैं ।
जब विश्वभरको भासता, तो आप भी हूँ भास मैं ॥
ज्यों सीपमें चाँदी मृषा, मरुभूमिमें पानी यथा ।
अज्ञानसे कल्पा हुआ, यह विश्व मुझमें है तथा ॥

(६)

ज्यों मृत्तिकासे घट बने, फिर मृत्तिकामें होय लय ।
उठतीं यथा जलसे तरंगें, होयँ फिर जलमें विलय ॥
कंकण, कटक बनते कनकसे लय कनकमें हों यथा ।
मुझसे निकलकर विश्व यह मुझमाँहि लय होता तथा ॥

(७)

होवे प्रलय इस विश्वका, मुझको न कुछ भी त्रास है ।
ब्रह्मादि सबका नाश हो, मेरा न होता नाश है ॥
मैं सत्य हूँ, मैं ज्ञान हूँ, मैं ब्रह्म देव अनन्त हूँ ।
कैसे भला हो भय मुझे, निर्भय सदा निश्चिन्त हूँ ॥

(८)

आश्चर्य है, आश्चर्य है, मैं देहवाला हूँ यदपि ।
आता न जाता हूँ कहीं, भूमा अचल हूँ मैं तदपि ॥
सुन प्राज्ञ वाणी चित्त दे, निजरूपमें अब जाग जा ।
भोला ! प्रमादी मत बने, भव-जेलसे उठ भाग जा ॥

कैसे भला फिर दीन हो ?

(१)

ज्यों सीपकी चाँदी लुभाती, सीपके जाने विना।
त्यों ही विषय सुखकर लगे हैं, आत्म पहिचाने विना॥
अज, अमर आत्मा जानकर, जो आत्ममें तल्लीन हो।
सब रस विरस लगते उसे, कैसे भला फिर दीन हो ?

(२)

सुन्दर परम आनन्दघन, निज आत्म जो नहिं जानता।
आसक्त होकर भोगमें, सो मूढ ही सुख मानता॥
ज्यों सिन्धुमेंसे लहर, जिससे विश्व उपजे लीन हो।
'मैं हूँ वही' जो जानता, कैसे भला फिर दीन हो ?

(३)

सब प्राणियोंमें आपको, सब प्राणियोंको आपमें।
जो प्राज्ञ मुनि है जानता, कैसे फँसे फिर पापमें॥
अक्षय सुधाके पानमें, जिस संतका मन लीन हो।
क्यों कामवश सो हो विकल, कैसे भला फिर दीन हो ?

(४)

है काम वैरी ज्ञानका, बलवानके बलको हरे।
नर धीर ऐसा जानकर, क्यों भोगकी इच्छा करे ?
जो आज है कल ना रहे, प्रत्येक क्षण ही क्षीण हो।
ऐसे विनश्वर भोगमें, कैसे भला फिर दीन हो ?

(५)

तत्त्वज्ञ विषय न भोगता ना खेद मनमें मानता।
निज आत्म केवल देखता, सुख दुःख सम है जानता ॥
करता हुआ भी नहिं करे, सशरीर भी तनहीन हो।
निन्दा प्रशंसा सम जिसे, कैसे भला फिर दीन हो ?

(६)

सब विश्व मायामात्र है, ऐसा जिसे विश्वास है।
सो मृत्यु सम्मुख देखकर लाता न मनमें त्रास है ॥
नहिं आश जीनेकी जिसे हो, त्रास मरनेकी न हो।
हो तृप्त अपने आपमें, कैसे भला फिर दीन हो ?

(७)

नहिं ग्राह्य कुछ,नहिं त्याज्य कुछ,अच्छा बुरा नहिं है कहीं।
यह विश्व है सब कल्पना, बनता बिगड़ता कुछ नहीं ॥
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, क्यों अन्यके स्वाधीन हो ?
सन्तुष्ट नर निर्द्वन्द्व सो, कैसे भला फिर दीन हो ?

(८)

श्रुति सन्त सब ही कह रहे, ब्रह्मादि गुरु सिखला रहे।
श्रीकृष्ण भी बतला रहे, शुक आदि मुनि दिखला रहे ॥
सुखसिन्धु अपने पास है, सुखसिन्धु-जलकी मीन हो।
भोला ! लगा डुबकी सदा, मत हो दुखी, मत दीन हो !

सब हानि लाभ समान है ।

(१)

संसार कल्पित मानता, नहिं भोगमें अनुरागता।
सम्पत्ति पा नहिं हर्षता, आपत्तिसे नहिं भागता॥
निज आत्ममें संतृप्त है, नहिं देहका अभिमान है।
ऐसे विवेकीके लिये, सब हानि-लाभ समान है!

(२)

संसारवाही बैल सम, दिन रात बोझा ढोय है।
त्यागी तमाशा देखता, सुखसे जगे है सोय है॥
समचित्त है, स्थिरबुद्धि, केवल आत्म-अनुसन्धान है।
तत्त्वज्ञ ऐसे धीरको, सब हानि-लाभ समान है!

(३)

इन्द्रादि जिस पदके लिये करते सदा ही चाहना।
उस आत्मपदको पायके, योगी हुआ निर्वासना॥
है शोक कारण राग, कारण रागका अज्ञान है।
अज्ञान जब जाता रहा, सब हानि-लाभ समान है!

(४)

आकाशसे ज्यों धूमका, सम्बन्ध होता है नहीं।
त्यों पुण्य अथवा पापको, तत्त्वज्ञ छूता है नहीं॥
आकाश सम निर्लेप जो चैतन्यघन प्रज्ञान है।
ऐसे असङ्गी प्राज्ञको, सब हानि-लाभ समान है!

(५)

यह विश्व सब है आत्म ही इस भाँतिसे जो जानता।
यश वेद उसका गा रहे, प्रारब्धवश वह वर्तता॥
ऐसे विवेकी सन्तको न निषेध है, न विधान है।
सुख-दुःख दोनों एकसे, सब हानि-लाभ समान है!

(६)

सुर, नर, असुर, पशु आदि जितने जीव हैं संसारमें।
इच्छा अनिच्छा वश हुए सब लिप्त हैं व्यवहारमें॥
इच्छा अनिच्छासे छुटा बस एक सन्त सुजान है।
उस सन्त निर्मल चित्तको, सब हानि-लाभ समान है॥

(७)

विश्वेश अद्वय आत्मको विरला जगत्में जानता।
जगदीशको जो जानता, नहिं भय किसीसे मानता॥
ब्रह्माण्ड भरको प्यार करता, विश्व जिसका प्राण है।
उस विश्व-प्यारेके लिये, सब हानि-लाभ समान है!

(८)

कोई न उसका शत्रु है, कोई न उसका मित्र है।
कल्याण सबका चाहता है, सर्वका सन्मित्र है॥
सब देश उसको एक-से, बस्तो भले, सुनसान है।
भोला! उसे फिर भय कहाँ सब हानि-लाभ समान है!

पुतली नहीं तू मांसकी !

(१)

जहँ विश्व लय हो जाय, तहँ भ्रम भेद सब बह जाय है ।
अद्वय स्वयं ही सिद्ध केवल एक ही रह जाय है ॥
सो ब्रह्म है, तू है वही, पुतली नहीं तू मांसकी ।
नहिं वीर्य तू, नहिं रक्त तू, नहिं धौंकनी तू, सांसकी ॥

(२)

जहँ हो अहन्ता लीन, तहँ रहता नहीं जीवत्व है ।
अक्षय निरामय शुद्ध संवित् शेष रहता तत्त्व है ॥
सो ब्रह्म है, तू है वही, पुतली नहीं तू मांसकी ।
नहिं जन्म तुझमें नहिं मरण, नहिं पोल है आकाशकी ॥

(३)

दिक्काल जहँ नहिं भासते, होता जहाँ नहिं शून्य है ।
सच्चित् तथा आनन्द आत्मा भासता परिपूर्ण है ॥
सो ब्रह्म है तू है वही, पुतली नहीं तू मांसकी ।
नहिं त्याग तुझमें नहिं ग्रहण, नहिं गाँठ है अध्यासकी ॥

(४)

चेष्टा नहीं, जड़ता नहीं, नहिं आवरण नहिं तम जहाँ ।
अव्यय अखण्डित ज्योति शाश्वत जगमगाती सम जहाँ ॥
सो ब्रह्म है. तू है वही, पुतली नहीं तू मांसकी ।
कैसे तुझे फिर बंध हो, नहिं मूर्ति तू आभासकी ॥

(५)

जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, नहिं व्योम पंचक है जहाँ।
परसे परे, ध्रुव शान्त शिव ही नित्य भासक है वहाँ॥
सो ब्रह्म है, तू है वही, पुतली नहीं तू मांसकी।
गुण तीनसे तू है परे, चिन्ता तुझे क्या नाशकी॥

(६)

जो ज्योतियोंका ज्योति है, सबसे प्रथम जो भासता।
अक्षर सनातन दिव्य दीपक सर्व विश्व प्रकाशता॥
सो ब्रह्म है, तू है वही, पुतली नहीं तू मांसकी।
तुझको प्रकाशे कौन, तू है दिव्य मूर्ति प्रकाशकी॥

(७)

शंका जहाँ उठती नहीं, किञ्चित् जहाँ न विकार है।
आनन्द अक्षयसे भरा, नित ही नया भण्डार है॥
सो ब्रह्म है, तू है वही, पुतली नहीं तू मांसकी।
फिर शोक तुझमें हो कहाँ, तू है अवधि संन्यासकी॥

(८)

जिस तत्त्वको कर प्राप्त परदा मोहका फट जाय है।
जल जायँ हैं सब कर्म, चिज्जड़-ग्रन्थि जड़ कट जाय है॥
सो ब्रह्म है, तू है वही, पुतली नहीं तू मांसकी।
भोला! स्वयं हो तृप्त, सुतली काट दे भव-पाशकी॥

सर्वात्म अनुसन्धान कर !

(१)

माया रचित यह देह है, माया रचित ही गेह है।
आसक्ति फाँसी है कड़ी, मजबूत रस्सी स्नेह है॥
भय भेदमें है सर्वदा, मत भेदपर तू ध्यान धर।
सर्वत्र आत्मा देख तू, सर्वात्म अनुसन्धान कर॥

(२)

माया महा है मोहनी, बन्धन अमंगल-कारिणी॥
व्यामोहकारिणि, शोकदा, आनन्द-मंगल-हारिणी॥
माया मरीको मार दे, मत देहमें अभिमान कर।
दे भेद मनसे मेट सब, सर्वात्म अनुसन्धान कर॥

(३)

जो ब्रह्म सबमें देखते हैं, ध्यान धरते ब्रह्मका।
भव-जालसे हैं छूटते, साक्षात् कर हैं ब्रह्मका॥
नर मूढ़ पाता क्लेश है, अपना पराया मानकर।
ममता अहंता त्याग दे, सर्वात्म अनुसन्धान कर॥

(४)

वैरी भयंकर हैं विषय, कीड़ा न बन तू भोगका।
चञ्चलपना मनका मिटा, अभ्यास करके योगका॥
यह चित्त होता मुक्त है, 'सब ब्रह्म है' यह जान कर।
कर दर्श सबमें ब्रह्मका, सर्वात्म अनुसन्धान कर॥

(५)

जब नाश होता चित्तका, योगी महा फल पाय है।
ज्यों पूर्ण शशि है शोभता, सब विश्वमें भर जाय है॥
चिन्मात्र संवित शुद्ध जलमें, नित्य ही तू स्नान कर।
मन मैल सारा डाल धो, सर्वात्म अनुसन्धान कर॥

(६)

जो दीखता, होता स्मरण, जो कुछ श्रवणमें आय है।
मिथ्या नदी मरु-भूमिकी है मूढ़ धोखा खाय है॥
धोखा न खा, सुखपूर्ण आत्मा-सिन्धुका जल पान कर।
प्यासा न मर, पीयूष पी, सर्वात्म अनुसन्धान कर॥

(७)

ममतारहित, निर्द्वन्द्व हो, भ्रम-भेद सारे दे हटा।
मत राग कर, मत द्वेष कर, सब दोष मनके दे मिटा॥
निर्मूल कर दे वासना, निज आत्मका कल्याण कर।
भाँडा दुईका फोड़ दे, सर्वात्म अनुसन्धान कर॥

(८)

देहात्म होती बुद्धि जब, धन मित्र सुत हो जायँ हैं।
ब्रह्मात्म होती दृष्टि जब, धन आदि सब खो जायँ हैं॥
मल-मूत्रके भण्डार नश्वर देहको पहिचान कर।
भोला! प्रमादी मत बने, सर्वात्म अनुसन्धान कर॥

बस, आपमें लवलीन हो !

(१)

तू शुद्ध है, तेरा किसीसे लेश भी नहिं संग है।
क्या त्यागना तू चाहता ? चिन्मात्र तू निस्संग है॥
निस्संग निजको जान ले, मत हो दुखी मत दीन हो।
इस देहसे तज संग दे, बस, आपमें लवलीन हो !

(२)

जैसे तरंगें बुलबुले, झागादि बनते सिन्धुसे।
त्यों ही चराचर विश्व बनता, एक तुझ चित्सिन्धुसे॥
तू सिन्धु-सम है एक-सा, नहिं जीर्ण हो न नवीन हो।
अपना पराया भेद तज, बस, आपमें लवलीन हो !

(३)

अपरोक्ष यद्यपि दीखता, नहिं वस्तुतः संसार है।
तुझ शुद्ध निर्मल तत्त्वमें, सम्भव न कुछ व्यापार है॥
ज्यों सर्प रस्सीका बना, फिर रज्जुमें ही लीन हो।
सब विश्व लय कर आपमें, बस, आपमें लवलीन हो !

(४)

सुख दुःख दोनों जान सम, आशा निराशा एक-सी।
जीवन मरण भी एक-सा, निन्दा प्रशंसा एक-सी॥
हर हालमें खुशहाल रह, निर्द्वन्द्व चिन्ता-हीन हो।
मत ध्यान कर तू अन्यका, बस, आपमें लवलीन हो !

(५)

भूमा अचल, शाश्वत अमल, सम, ठोस है तू सर्वदा।
यह देह है पोला घड़ा, बनता बिगड़ता है सदा॥
निर्लेप रह जल विश्वमें, मत विश्व-जलकी मीन हो।
अनुरक्त मत हो देहमें, बस, आत्ममें लवलीन हो!

(६)

यह विश्व लहरोंके सदृश, तू सिन्धु ज्यों गम्भीर है।
बनते विगड़ते विश्व हैं, तू नित्य निश्चल ही रहै॥
मत विश्वसे सम्बन्ध रख, मत भोगके आधीन हो।
नित आत्म अनुसन्धान कर, बस, आपमें लवलीन हो!

(७)

तू सींप सच्ची वस्तु है, यह विश्व चाँदी है मृषा।
तू वस्तु सच्ची रज्जु है, यह विश्व अहिनी है मृषा॥
इसमें नहीं सन्देह कुछ, प्यारे! न श्रद्धाहीन हो।
विश्वास कर, विश्वास कर, बस, आपमें लवलीन हो!

(८)

तू सर्व भूतों माहिं है, सब भूत तेरे माहिं हैं।
तू सूत्र सबमें पूर्ण है, तेरे सिवा कुछ नाहिं है॥
यदि हो न सत्ता एक तो, फिर चर अचर कुछ भी न हो।
भोला! यही सिद्धान्त है, बस, आपमें लवलीन हो!

छोडूँ किसे ? पकडूँ किसे ?

(१)

अक्षुब्ध मुझ अम्बोधिमें ये विश्व नावें चल रहीं।
मन वायुकी प्रेरी हुई, मुझ सिन्धुमें हलचल नहीं॥
मन वायुसे मैं हूँ परे, हिलता नहीं मन वायुसे।
कूटस्थ ध्रुव अक्षोभ हूँ, छोडूँ किसे ? पकडूँ किसे ?

(२)

निस्सीम मुझ सुखसिन्धुमें जग-वीचियाँ उठती रहें।
बढ़ती रहें घटती रहें, बनती रहें मिटती रहें॥
अव्यय, रहित उत्पत्तिसे हूँ, वृद्धिसे अरु अस्तसे।
निश्चल सदा ही एक-सा, छोडूँ किसे ? पकडूँ किसे ?

(३)

अध्यक्ष हूँ मैं विश्वका, यह विश्व मुझमें कल्पना।
कल्पे हुएसे सत्यकी, होती कभी कुछ हानि ना॥
अति शान्त, बिन आकार हूँ, पर रूपसे पर नामसे।
अद्वय अनामय तत्त्व मैं, छोडूँ किसे ? पकडूँ किसे ?

(४)

देहादि नहिं हैं आत्ममें, नहिं आत्म है देहादिमें।
आत्मा निरञ्जन एक-सा है, अन्तमें क्या आदिमें॥
निस्संग अच्युत निस्पृही, अति दूर सर्वोपाधिसे।
सो आत्म अपना आप है, छोडूँ किसे ? पकडूँ किसे ?

(५)

चिन्मात्र मैं ही सत्य हूँ, यह विश्व वन्ध्यापुत्र है।
नहिं बाँझ सुत जनती कभी, तब विश्व कहनेमात्र है॥
जब विश्व कुछ है ही नहीं, सम्बन्ध क्या फिर विश्वसे।
सम्बन्ध ही जब है नहीं, छोड़ूँ किसे? पकड़ूँ किसे?

(६)

नहिं देह मैं, नहिं इन्द्रियाँ, मन भी नहीं, नहिं प्राण हूँ।
नहिं चित्त हूँ, नहिं बुद्धि हूँ, नहिं जीव, मैं विज्ञान हूँ॥
कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं, निर्मुक्त हूँ मैं कर्मसे।
निरुपाधि संवित शुद्ध हूँ, छोड़ूँ किसे? पकड़ूँ किसे?

(७)

है देह मुझमें दीखता, पर देह मुझमें है नहीं।
द्रष्टा कभी नहिं दृश्यसे, परमार्थसे मिलता कहीं॥
नहिं त्याज्य हूँ, नहिं ग्राह्य हूँ, पर हूँ ग्रहणसे त्यागसे।
अक्षर परम आनन्दघन, छोड़ूँ किसे? पकड़ूँ किसे?॥

(८)

मन बुद्धिके हैं धर्म सब, कर्तापना, भोक्तापना।
चिद्रूप मुझमें लेश भी, सम्भव नहीं है कल्पना॥
यों स्वात्म अनुसंधान कर, छूटे चतुर भवबन्धसे।
भोला! न अब संकोच कर, छोड़ूँ किसे? पकड़ूँ किसे?

बन्धन यही कहलाय है।

(१)

'मैं' 'तू' नहीं पहिचानना, विषयी विषय नहिं जानना।
आत्मा अनात्मा मानना, निज अन्य नहिं पहिचानना॥
चेतन अचेतन जानना, अति पाप माना जाय है।
संताप यह ही देय है, बन्धन यही कहलाय है॥

(२)

क्या ईश है? क्या जीव है? यह विश्व कैसे बन गया?
पावन परम निस्संग आत्मा, संगमें क्यों सन गया?
सुख-सिन्धु आत्मा एकरस, सो दुःख कैसे पाय है?
कारण न इसका जानना, बन्धन यही कहलाय है॥

(३)

इस देहको 'मैं' मानना, या इन्द्रियाँ 'मैं' जानना।
अभिमान करना चित्तमें, या बुद्धि 'मैं' पहिचानना॥
देहादिके अभिमानसे, नर मूढ दुःख उठाय है।
बहु योनियोंमें जन्मता, बन्धन यही कहलाय है॥

(४)

बेड़ी कठिन है कामना, आसक्त दृढ़तम जाल है।
ममता भयंकर राक्षसी, संकल्प काल व्याल है॥
इन शत्रुओंके वश हुआ, जन्मे मरे पछताय है।
सुखसे कभी सोता नहीं, बन्धन यही कहलाय है॥

(५)

यह है भला, यह है बुरा, यह पुण्य है, यह पाप है।
यह लाभ है, यह हानि है, यह शीत है, यह ताप है॥
यह ग्राह्य है, यह त्याज्य है, यह आय है, यह जाय है।
इस भाँतिकी मन कल्पना, बन्धन यही कहलाय है॥

(६)

श्रोत्रादिको 'मैं' मान नर, शब्दादिमें फँस जाय है।
अनुकूलमें सुख मानता, प्रतिकूलसे दुख पाय है॥
पाकर विषय है हर्षता, नहिं पाय तब घबराय है।
आसक्त होना भोगमें, बन्धन यही कहलाय है॥

(७)

सत्संगमें जाता नहीं, नहिं वेद-आज्ञा मानता।
सुनता न हित उपदेश, अपनी तान उलटी तानता॥
शिष्टाचरण करता नहीं, दुष्टाचरण ही भाय है।
कहते इसे हैं मूढ़ता, बन्धन यही कहलाय है॥

(८)

यह चित्त जबतक चाहता, या विश्वमें है दौड़ता।
करता किसीको है ग्रहण, अथवा किसीको छोड़ता॥
सुख पायके है हर्षता, दुख देखकर सकुचाय है।
भोला! न तबतक मोक्ष हो, बन्धन यही कहलाय है॥

इच्छा विना ही मुक्त है ।

(१)

ममता नहीं सुत-दारमें, नहिं देहमें अभिमान है।
निन्दा प्रशंसा एक-सी, सम मान अरु अपमान है॥
जो भोग आते भोगता, होता न विषयासक्त है।
निर्वासना निर्द्वन्द्व सो, इच्छा विना ही मुक्त है॥

(२)

सब विश्व अपना जानता, या कुछ न अपना मानता।
क्या मित्र हो क्या शत्रु सबको एक सम सन्मानता॥
सब विश्वका है भक्त जो, सब विश्व जिसका भक्त है।
निर्हेतु सबका सुहृद सो, इच्छा विना ही मुक्त है॥

(३)

रहता सभीके संग पर करता न किञ्चित् संग है।
है रंग पक्केमें रँगा, चढ़ता न कच्चा रंग है॥
है आपमें संलग्न, अपने आपमें अनुरक्त है।
है आपमें सन्तुष्ट, सो इच्छा विना ही मुक्त है॥

(४)

सुन्दर कथाएँ जानता, देता घने दृष्टान्त है।
देता दिखायी भ्रान्त-सा, भीतर परम ही शान्त है॥
नहिं राग है नहिं द्वेष है, सब दोषसे निर्मुक्त है।
करता सभीको प्यार, सो इच्छा विना ही मुक्त है॥

(५)

नहिं दुःखसे घबराय है, सुखकी जिसे नहिं चाह है।
सन्मार्गमें विचरे सदा, चलता न खोटी राह है॥
पावन परम अन्तःकरण, गम्भीर धीर विरक्त है।
शम दम क्षमासे युक्त सो इच्छा विना ही मुक्त है॥

(६)

जीवन जिसे रुचता नहीं, नहिं मृत्युसे घबराय है।
जीवन मरण है कलपना, अपना न कुछ भी जाय है॥
अक्षय, अजर, शाश्वत, अमर, निज आत्ममें संतृप्त है।
ऐसा विवेकी प्राज्ञ नर, इच्छा विना ही मुक्त है॥

(७)

माया नहीं, काया नहीं, वन्ध्या रचा यह विश्व है।
नहिं नाम ही, नहिं रूप ही, केवल निरामय तत्त्व है॥
यह ईश है, यह जीव माया माँहिं सब संक्लृप्त है।
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, इच्छा विना ही मुक्त है॥

(८)

कर्तव्य था सो कर लिया, करना न कुछ भी शेष है।
था प्राप्त करना पा लिया, पाना न अब कुछ लेश है॥
जो जानना था जानकर, स्व-स्वरूपमें संयुक्त है।
भोला! नहीं सन्देह, सो इच्छा विना ही मुक्त है॥

ममता अहंता छोड़ दे।

(१)

पूरे जगत्‌के कार्य कोई भी कभी नहिं कर सका।
शीतोष्णसे सुख-दुःखसे कोई भला क्या तर सका?
निस्संग हो, निश्चिन्त हो, नाता सभीसे तोड़ दे।
करता भले रह देहसे, ममता अहंता छोड़ दे॥

(२)

संसारियोंकी दुर्दशाको देख मनमें शान्त हो।
मत आशका हो दास तू, मत भोग सुखमें भ्रान्त हो॥
निज आत्म सच्चा जानकर, भांडा जगत्‌का फोड़ दे।
अपना पराया मान मत, ममता अहंता छोड़ दे॥

(३)

नश्वर अशुचि यह देह तीनों तापसे संयुक्त है।
आसक्त हड्डी मांसपर, होना तुझे नहिं युक्त है॥
पावन परम निज आत्ममें, मन वृत्ति अपनी जोड़ दे।
सन्तोष समता कर ग्रहण, ममता अहंता छोड़ दे॥

(४)

है काल ऐसा कौन-सा, जिसमें न कोई द्वन्द्व है।
बचपन तरुणपन वृद्धपन कोई नहीं निर्द्वन्द्व है॥
कर पीठ पीछे द्वन्द्व सब, मुख आत्मकी दिश मोड़ दे।
कैवल्य निश्चय पायगा, ममता अहंता छोड़ दे॥

(५)

योगी, महर्षी, साधुओंकी हैं घनी पगडण्डियाँ।
कोई सिखाते सिद्धियाँ, कोई बताते ऋद्धियाँ॥
ऊँचा न चढ़, नीचा न गिर, तज धूप दे, तज दौड़ दे।
सम शान्त होजा एक रस, ममता अहंता छोड़ दे॥

(६)

सुखरूप सच्चित् ब्रह्मको, जो आत्म अपना जानता।
इन्द्रादि सुरके भोग सारे ही मृषा है मानता॥
दश, सौ, हजारों शून्य मिथ्या छोड़ लाख करोड़ दे।
यक आत्म सच्चा ले पकड़, ममता अहंता छोड़ दे॥

(७)

गुण तीन पाँचों भूतका, यह विश्व सब विस्तार है।
गुण भूत जड़ निस्सार सब, तू एक द्रष्टा सार है॥
चैतन्यकी कर होड़ प्यारे! त्याग जड़की होड़ दे।
तू शुद्ध है, तू बुद्ध है, ममता अहंता छोड़ दे॥

(८)

शुभ होयँ अथवा हों अशुभ सब वासनाएँ छाँट दे।
निर्मूल करके वासना, अध्यासकी जड़ काट दे॥
अध्यास खुजली कोढ़ है, कोढ़ी न बन, तज कोढ़ दे।
सुख शान्ति भोला! ले पकड़, ममता अहंता छोड़ दे॥

मत भोगमें आसक्त हो!

(१)

है काम वैरी ज्ञानका, तज काम, हो निष्काम रे।
है अर्थ साधक काममें, मत अर्थसे रख काम रे॥
कामार्थ कारण धर्म है, मत धर्ममें अनुरक्त हो।
कर चाह केवल मोक्षकी, मत भोगमें आसक्त हो!

(२)

निस्सार यह संसार दुख भण्डार मायाजाल है।
ऐसा यहाँपर कौन है, खाता जिसे नहिं काल है?
फिर मित्र सुत-दारादिमें, क्यों व्यर्थ ही संसक्त हो।
यदि इष्ट निज कल्याण है, मत भोगमें आसक्त हो॥

(३)

तृष्णा जहाँ होवे वहाँ ही जान ले संसार है।
होवे नहीं तृष्णा जहाँ, संसारका सो पार है॥
वैराग्य पक्का धारकर, मत भूल विषयासक्त हो।
तृष्णा न कर होजा सुखी, मत भोगमें आसक्त हो॥

(४)

है बन्ध तृष्णामात्र तृष्णा-त्याग सुखका मूल है।
तृष्णा भयंकर व्याधि है, छेदे अनेकों शूल है॥
दे त्याग तृष्णा भोगकी, निज आत्ममें अनुरक्त हो।
तृष्णा न भज, सन्तोष भज, मत भोगमें आसक्त हो॥

(५)

तू एक चेतन शुद्ध है, यह देह जड़ अपवित्र है।
तू सत्य अव्यय तत्त्व है, यह विश्व वन्ध्या-पुत्र है॥
पहिचान कर तू आपको, हे तात! संशय-मुक्त हो।
नहिं है अधिक अब जानना, मत भोगमें आसक्त हो॥

(६)

धारी हजारों देह, सुत दारा हजारों कर चुका।
हँसता रहा, रोता रहा, सौ बार तनु धर मर चुका॥
जहँ जहँ गया, दुखही सहा, अब तो न व्याकुलचित्त हो।
ब्रह्मात्ममें तल्लीन हो, मत भोगमें आसक्त हो॥

(७)

धिक्कार है उस अर्थको, धिक्कार है उस कर्मको।
धिक्कार है उस कामको, धिक्कार है उस धर्मको॥
जिससे न होवे शान्ति, उस व्यापारमें क्यों सक्त हो?
पुरुपार्थ अन्तिम सिद्ध कर, मत भोगमें आसक्त हो॥

(८)

मन, कर्म, वाणीसे तथा, सब कर्म है तू कर चुका।
ऊँचा गया स्वर्गादिमें, पातालमें भी गिर चुका॥
अब कर्म करना छोड़ दे, भोला! न देहासक्त हो।
आसक्त हो स्व-स्वरूपमें, मत भोगमें आसक्त हो॥

होता तुरत ही शान्त है।

(१)

संसारकी सब वस्तुएँ बनती बिगड़ती हैं सदा।
क्षण एक-सी रहती नहीं, बदला करें हैं सर्वदा॥
आत्मा सदा है एकरस, गतक्लेश शाश्वत मुक्त है।
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, होता तुरत ही शान्त है॥

(२)

ईश्वर यहाँ, ईश्वर वहाँ, ईश्वर सिवा नहिं अन्य है।
सर्वत्र ही परिपूर्ण अच्युत एक देव अनन्य है॥
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, होता न सो फिर भ्रान्त है।
आशा जगत्की छोड़कर, होता तुरत ही शान्त है॥

(३)

क्या सम्पदा क्या आपदा, प्रारब्धवश सब आयँ हैं।
ईश्वर उन्हें नहिं भेजता, निज कर्म वश आ जायँ हैं॥
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, रहता सदा निश्चिन्त है।
नहिं हर्षता, नहिं सोचता, होता तुरत ही शान्त है॥

(४)

सुख दुःख औ जीवन मरण, सब कर्मके आधीन है।
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, होता नहीं फिर दीन है॥
जो भोग आते भोगता, होता न भोगासक्त है।
निर्लेप रहता कर्मसे, होता तुरत ही शान्त है॥

(५)

चिन्ता कियेसे दुःख हो, चिन्ता बुरी फाका भला।
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, सो क्यों करे चिन्ता भला?
चिन्ता नहीं करता कभी, होता न व्याकुल-चित्त है।
रहता सुखी हर हालमें, होता तुरत ही शान्त है॥

(६)

नहिं देह मैं, नहिं देह मेरा, शुद्ध हूँ मैं बुद्ध हूँ।
कूटस्थ हूँ निस्संग हूँ, नहिं देहसे संबद्ध हूँ॥
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, फिर क्या उसे एकान्त है?
बस्ती भले जंगल रहे, होता तुरत ही शान्त है॥

(७)

ले कीटसे ब्रह्मा तलक, मेरे सिवा नहिं अन्य है।
मैं पूर्ण हूँ, मैं सर्व हूँ, ऐसा विवेकी धन्य है॥
सम प्राप्तिमें अप्राप्तिमें, मन इन्द्रियाँ जित दान्त है।
नहिं देर कुछ लगती उसे, होता तुरत ही शान्त है॥

(८)

आश्चर्यमय है विश्व यह सो वस्तुतः कुछ है नहीं।
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, उसको नहीं है भय कहीं॥
निष्काम फुरणामात्रको रहता न कुछ भी चिन्त्य है।
भोला! हुआ निश्चिन्त जो, होता तुरत ही शान्त है॥

निज आत्ममें डट जाय है ।

(१)

कायिक क्रियाएँ त्याग दे, वाचक क्रियाएँ छोड़ दे ।
संकल्प करना चित्तका, व्यापार सम्यक् तोड़ दे ॥
जब चित्त थिरता पाय है, संसार सब हट जाय है ।
साक्षी स्वयं रह जाय तब, निज आत्ममें डट जाय है ॥

(२)

विष सम विषय सब जानकर, शब्दादिमें मत राग कर ।
आत्मा-सुधाका पान कर, मत देहमें अनुराग कर ॥
आत्मा-सुधाके पानसे, विक्षेप सब छुट जाय है ।
विक्षेप मिटते ही तुरत, निज आत्ममें डट जाय है ॥

(३)

कर्तापने, भोक्तापनेका जब तलक अध्यास है ।
तबतक समाधीके लिये, करना पड़े अभ्यास है ॥
कर्तापना, भोक्तापना, अध्यास जब मिट जाय है ।
कर्तव्य सब छुट जाय है, निज आत्ममें डट जाय है ॥

(४)

यह ग्राह्य है, यह त्याज्य है, अध्यास ऐसा मत करे ।
मत हर्ष कर, मत शोक कर, रह सर्व द्वन्द्वोंसे परे ॥
निर्द्वन्द्व जब हो जाय है, तब शान्ति अविचल पाय है ।
संशय सभी मिट जायँ हैं, निज आत्ममें डट जाय है ॥

(५)

'मन बुद्धिसे मैं हूँ परे' 'नहिं ध्यान ध्याता ध्येय मैं'।
'निष्काम निस्संकल्प हूँ' 'नहिं ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय मैं'॥
ऐसे निरन्तर मननसे, भ्रम-भेद सब मिट जाय है।
सब कामना निर्मूल हों, निज आत्ममें डट जाय है॥

(६)

करना न करना कर्मका, अज्ञानसे सब होय है।
तुझ आत्ममें बनता नहीं, करना न करना कोय है॥
यह तत्त्व सम्यक् जानकर, अज्ञान जड़ कट जाय है।
होता नहीं है मोह फिर, निज आत्ममें डट जाय है॥

(७)

चिन्तन करे है जब तलक नहिं ब्रह्म जाना जाय है।
चिन्तन रहित है ब्रह्म सो चिन्तन रहित ही पाय है॥
चिन्तन रहित हो जाय है, सो ज्ञान सम्यक् पाय है।
सम्यक् हुआ जब ज्ञान तब निज आत्ममें डट जाय है॥

(८)

यों साधनोंसे ब्रह्मको, चिन्तन रहित पहिचान कर।
कृतकृत्य नर हो जाय है, ऐसा कहे हैं प्राज्ञ नर॥
साधक भले हो सिद्ध जो चिन्तन रहित हो जाय है।
भोला! नहीं सन्देह कुछ, निज आत्ममें डट जाय है॥

यह ही परम पुरुषार्थ है।

(१)

आसक्ति जबतक लेश है, तबतक न चिन्ता जाय है।
नहिं चित्त थिर हो जब तलक, नहिं मोक्ष-सुख नर पाय है॥
कौपीनतकमें राग हो, तो जाय रुक परमार्थ है।
निर्मूल होना रागका, यह ही परम पुरुषार्थ है॥

(२)

तीर्थादिके सेवन कियेसे खेद काया पाय है।
पाठन-पठन यदि कीजिये, तो जीभमें श्रम आय है॥
मन खेद पावे ध्यानसे, यह बात सत्य यथार्थ है।
व्यापार तीनों त्याग दे, यह ही परम पुरुषार्थ है॥

(३)

देहादि करते कार्य हैं, आत्मा सदा निर्लेप है।
यह ज्ञान सम्यक् होय जब, होता न फिर विक्षेप है॥
मन इन्द्रियाँ करती रहें, अपना न कुछ भी स्वार्थ है।
जो आ गया सो कर लिया, यह ही परम पुरुषार्थ है॥

(४)

निष्ठा रखूँ निष्कर्म, थामें कर्ममें निष्ठा धरूँ।
यह प्रश्न देहासक्तका है, क्या करूँ क्या नहिं करूँ॥
निष्कर्मसे नहिं हानि है, नहिं कर्ममें कुछ अर्थ है।
अभिमान दोनों त्याग दे, यह ही परम पुरुषार्थ है॥

(५)

बैठे, चले, सोवे भले, नहिं देहमें आसक्त हो।
दे कार्य करने देहको, निज आत्ममें अनुरक्त हो॥
चेष्टा करे है देह अपना अर्थ है न अनर्थ है।
नहि संग करना देहसे, यह ही परम पुरुषार्थ है॥

(६)

नहिं जागनेमें लाभ कुछ, नहिं हानि कोई स्वप्नमें।
नहिं बैठनेसे जाय कुछ, नहिं आय है कुछ यत्नसे॥
निर्लेप जो रहता सदा, सो सिद्ध युक्त कृतार्थ है।
नहिं त्याग हो, नहिं हो ग्रहण, यह ही परम पुरुषार्थ है॥

(७)

आसक्तिसे ही जन्म है, आसक्तिमें ही है मरण।
आसक्तिमें ही बन्ध है, निस्संगतामें भव तरण॥
व्यासादि कहते हैं यही, श्रुतिका यही भावार्थ है।
निस्संग आत्मा है सदा, यह ही परम पुरुषार्थ है॥

(८)

जो कुछ दिखाई दे रहा, निस्सार सर्व अनित्य है।
नहिं गेह ही नहिं देह, पुण्यापुण्य भी नहिं नित्य है॥
सबका प्रकाशक शुद्ध संवित एक देव समर्थ है।
भोला! उसीमें जाय डट, यह ही परम पुरुषार्थ है॥

संसारसे सो छुट गया।

(१)

संकल्प आदिक चित्तके सब धर्मसे जो हीन है।
होती सभी जिसकी क्रिया, प्रारब्धके स्वाधीन है॥
इच्छा विना चेष्टा करे निज आत्ममें है डट गया।
संसारमें दीखे भले, संसारसे सो छुट गया॥

(२)

धनकी जिसे नहिं चाह है, नहिं मित्रकी परवाह है।
आसक्ति विषयोंमें नहीं, प्रारब्धपर निर्वाह है॥
सब विश्व मटियामेट कर,जो आप भी है मिट गया।
मिटकर हुआ है आप ही, संसारसे सो छुट गया॥

(३)

गेहादिमें ममता नहीं, नहिं देहमें अभिमान है।
संतृप्त अपने आपमें नित आत्म अनुसन्धान है॥
अध्यास मटका गल गया, अज्ञान पर्दा फट गया।
विज्ञान अनुभव खुल गया, संसारसे सो छुट गया॥

(४)

मनमें नहीं विक्षेप है, नहिं बुद्धिमें कुछ भ्रान्ति है।
चिन्ता नहीं है चित्तमें, परिपूर्ण अक्षय शान्ति है॥
कामादि तस्कर भग गये, कूड़ा गया, कर्कट गया।
अक्षय खजाना रह गया, संसारसे सो छुट गया॥

(५)

सर्दी पड़े गर्मी पड़े, वर्षा झड़े तो वाह वा!
आँधी चले, पानी पड़े, बिजली गिरे तो वाह वा!
जो होय सो होता रहे, अपना नहीं कुछ घट गया।
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, संसारसे सो छुट गया॥

(६)

जंगल बुरा लगता नहीं, दंगल जिसे रुचता नहीं।
नहिं स्वर्ण लेने दौड़ता, है सर्पसे बचता नहीं॥
जीना जिसे भाता नहीं, भय मृत्युका है उठ गया।
सो धन्य है जग मन्य है, संसारसे सो छुट गया॥

(७)

नहिं शत्रु जिसका कोय है, नहिं मित्र जिसका कोय है।
स्व-स्वभाव वश अच्छा बुरा व्यवहार जिसका होय है॥
बाहर सभी करता रहे है चित्तसे सब हट गया।
मन स्वस्थ निर्मल शान्त है, संसारसे सो छुट गया॥

(८)

यह पुरुष है, यह नारि है, ऐसा जिसे नहिं ध्यान है।
सम हानि है, सम लाभ है, सम मान अरु अपमान है॥
मैं अन्य हूँ, यह अन्य है, यह भेद जिसका मिट गया।
भोला! वही हुशियार है, संसारसे सो छुट गया॥

सोचका क्या काम है ?

(१)

नहिं देह तू नहिं देह तेरा, देहसे तू भिन्न है।
कर्ता नहीं भोक्ता नहीं, कामादिकोंसे अन्य है॥
आनन्द है चिद्रूप है, सद्रूप है, निष्काम है।
कूटस्थ है, निस्संग है, फिर सोचका क्या काम है?

(२)

निःशोक है, निर्मोह है, तुझमें नहीं है भय कहीं।
रागादि मनके दोष हैं, तू मन कभी भी है नहीं॥
अज्ञान तुझमें है नहीं, बोधात्म तेरा नाम है।
निर्दोष है तू निर्विकारी, सोचका क्या काम है?

(३)

सब भूत तेरे माँहि हैं, तू सर्व भूतों माँहि है।
सर्वत्र तू परिपूर्ण है, तेरे सिवा कुछ नाहिं है॥
ममता अहंतासे रहित, सबमें रमे तू राम है।
निश्छेद्य है, निर्भेद्य है, फिर सोचका क्या काम है?

(४)

जैसे तरंगें सिन्धुसे, वह, विश्व जिसमें हों उदय।
ठहरी रहें कुछ कालतक, फिर अन्तमें हो जायँ लय॥
सो तू निरामय तत्त्व है, मन बुद्धिसे परधाम है।
वाणी जहाँ नहिं जा सके, फिर सोचका क्या काम है?

(५)

विश्वासकर, विश्वासकर, मत मोहको तू प्राप्त हो।
हो आपमें सन्तुष्ट केवल आपमें संतृप्त हो॥
नहिं हाड़ तू, नहिं मास है, नहिं रक्त है नहिं चाम है।
है देह तीनोंसे परे, फिर सोचका क्या काम है?

(६)

गुणयुक्त है यह देह आता है चला फिर जाय है।
आत्मा अचल परिपूर्ण है, नहिं जाय है नहिं आय है॥
तिहुँ देहका, तिहुँ लोकका, तिहुँ कालका विश्राम है।
घटता नहीं, बढ़ता नहीं, फिर सोचका क्या काम है?

(७)

यह देह ठहरे कलपतक, या आज उसका अन्त हो।
तेरा न कुछ विगड़े बने, यह जानकर निश्चिन्त हो॥
दिन रात तुझमें हैं नहीं, नाहीं सबेरा शाम है।
तू कालका भी काल है, फिर सोचका क्या काम है?

(८)

अध्यस्त तुझमें विश्व है, तू विश्वका आधार है।
स्वच्छन्द है, निर्द्वन्द्व है, भयमुक्त है भवपार है॥
श्रुति सन्त सब ही कह रहे,कहता यही प्रभु श्याम है।
भोला! नहीं है दूसरा, तो सोचका क्या काम है?

अद्वैत है, एकत्व है।

(१)

चिन्मात्र तू भरपूर है, नहिं विश्व तुझसे भिन्न है।
फिर त्याग क्या कैसा ग्रहण, तुझसे न जब कुछ अन्य है॥
है विश्व तेरी कल्पना, तू सिद्ध अक्षय तत्त्व है।
नहिं भेद है, नहिं द्वैत है, अद्वैत है, एकत्व है॥

(२)

तू एक अव्यय, शान्त, निर्मल, स्वच्छ चिद् आकाश है।
अज्ञान तुझमें है नहीं, नहिं भ्रान्ति, नहिं अध्यास है॥
राजस नहीं, तामस नहीं, तुझमें न रंचक सत्त्व है।
निर्गुण, निरामय, एक रस, अद्वैत है, एकत्व है॥

(३)

कंकण कटक, नूपुर रुचक, नहिं कनकसे कुछ भिन्न है।
नहिं कार्य कारणसे कभी तिहुँ कालमें भी अन्य है॥
जो जो जहाँ तू देखता, तेरा सभी भासत्व है।
तुझसे नहीं है भिन्न कुछ अद्वैत है, एकत्व है॥

(४)

'मैं हूँ यही,' 'मैं वह नहीं' यह भिन्नता मत मान रे।
'मैं सर्व हूँ' 'सर्वात्म हूँ,' ऐसा निरन्तर जान रे॥
तेरे बिना नहिं अन्यका, किञ्चित कहीं अस्तित्व है।
श्रुति सन्त सब ही कह रहे, अद्वैत है, एकत्व है॥

(५)

यह विश्व केवल भ्रान्ति है, नहिं वस्तुतः कुछ सत्य है।
नश्वर सभी तेरे सिवा, तू एक शाश्वत नित्य है॥
चिन्मात्र तू ही तत्त्व है, यह दृश्य सब निस्तत्त्व है।
निस्तत्त्वकी सत्ता कहाँ, अद्वैत है, एकत्व है॥

(६)

संसार सागर माँहिं तू ही एक पहिले सत्य था।
अब भी तुही है एक, आगे भी रहेगा तू तथा॥
नहिं बन्ध है, नहिं मोक्ष, नहिं कर्तृत्व, नहिं भोक्तृत्व है।
सर्वत्र तू ही पूर्ण है, अद्वैत है, एकत्व है॥

(७)

निज चित्तको मत क्षोभ दे, संकल्प और विकल्पसे।
कूटस्थ भूमा ठोस हो, मत काम रख कुछ अल्पसे॥
अल्पत्व भासे भ्रान्तिमें, पर वस्तुतः पूर्णत्व है।
निर्वासना हो जा सुखी, अद्वैत है, एकत्व है॥

(८)

मत ध्यान कर कुछ हृदयमें, सर्वत्र तज दे ध्यान तू।
आत्मा सदा है मुक्त तू, फिर क्या करे है ध्यान तू॥
जब दूसरा है ही नहीं तो सर्वथा मौनत्व है।
भोला! सुखी हो, शान्त हो, अद्वैत है, एकत्व है॥

शान्ति अक्षय पायगा ।

(१)

वर्षों तलक लाखों भले ही शास्त्र तू सुनता रहे।
पढ़ता रहे या रात दिन, उपदेश भी करता रहे ॥
जबतक बना है भेद 'मैं' 'तू' भय न तबतक जायगा।
जब भेद सब मिट जायगा, तब शान्ति अक्षय पायगा ॥

(२)

भोगे भले बहु भोग, नाना कर्म आचरता रहे।
अथवा समाधीपर समाधी लाख तू करता रहे ॥
जबतक रहेगी वासना, बन्धन न तेरा जायगा।
निर्वासना हो जायगा, तब शान्ति अक्षय पायगा ॥

(३)

आयाससे सब हैं दुखी, कोई नहीं यह जानता।
है भोगमें ही मात्र सुख, नर मूढ़ ऐसा मानता ॥
निस्सीम सुख है आपमें, विश्वास जो नर लायगा।
अन्तर्मुखी हो जायगा, सो शान्ति अक्षय पायगा ॥

(४)

जो खोलने या मूंदनेमें आँखके अलसाय है।
आलस्सियोंका भूप सो ही, ब्रह्म सुख चख पाय है ॥
जो ब्रह्म-सुखका स्वाद ले, क्यों भोगमें ललचायगा ?
सब रस विरस हो जायँगे, जब शान्ति अक्षय पायगा ॥

(५)

यह कर लिया, यह नहिं किया, ये द्वन्द्व सारे तोड़ दे।
धर्मार्थ तज दे, काम तज दे, मोक्ष-कांक्षा छोड़ दे॥
निरपेक्ष जब तू होयगा, निर्द्वन्द्व तब हो जायगा।
स्वच्छन्द होगा शान्त होगा शान्ति अक्षय पायगा॥

(६)

त्यागी विषयसे द्वेषकर, नहिं संग उनका छोड़ता।
रागी विषयमें राग करके, प्रेम उनसे जोड़ता॥
मत राग कर मत द्वेष कर, निस्संग तू हो जायगा।
संसर्गसे छुट जायगा, तब शान्ति अक्षय पायगा॥

(७)

है त्याग जब तक या ग्रहण, तब तक खड़ा संसार है।
नहिं त्याग करता नहिं ग्रहण, संसारसे सो पार है॥
मत त्याग कर मत कर ग्रहण, स्व-स्वरूपमें टिक जायगा।
संसारतरु गिर जायगा, तू शान्ति अक्षय पायगा॥

(८)

यदि प्रीति विषयोंमें करेगा, राग बढ़ता जायगा।
यदि द्वेष विषयोंसे किया, तो द्वेष दृढ़ता पायगा॥
तज राग दे, तज द्वेष दे, मन मैल सब धुल जायगा।
बालाचरण भोला! ग्रहण कर शान्ति अक्षय पायगा॥

विरला कहीं पर पाय है !

(१)

मन इन्द्रियाँ स्वाधीन कर, जो आत्ममें संलग्न है।
निज आत्ममें संतृप्त है, निज आत्ममें मन मग्न है॥
नहिं स्वप्नमें भी भोगमें, जिसका कभी मन जाय है।
ऐसा विवेकी धीर नर, विरला कहीं पर पाय है॥

(२)

हर्षित कभी होता नहीं, होता कभी नहिं खिन्न है।
सुख दुःख लाभ अलाभमें, सम चित्त रहत प्रसन्न है॥
बैठे चले, खावे पिये, जागे भले सो जाय है।
निज लक्ष्यसे हटता न जो, विरला कहीं पर पाय है॥

(३)

सब रस विरस लगते जिसे, नहिं भोग जिसको खैंचते।
ज्यों ईख-प्रेमी हस्तिको, नहि निम्ब पत्ते ऐंचते॥
नहिं कामके वश हो कभी, नहिं क्रोध जिसको आय है।
निर्लोभ संशयसे रहित, विरला कहीं पर पाय है॥

(४)

जो भोग आवें भोगता, आसक्त पर होता नहीं।
नहिं प्राप्त होते भोग, उनकी चाह भी करता नहीं॥
निःशोक है, निर्मोह है, नहिं भय किसीसे खाय है।
नहिं अन्यको भय दे कभी, विरला कहीं पर पाय है॥

(५)

संसार माँही हैं बहुत-से लोग इच्छुक भोगके।
देखे मुमुक्षू भी घने अभ्यास करते योगके॥
नहिं भोग जिसको चाहिये, नहिं मोक्ष जिसको भाय है।
दुर्लभ्य ऐसा धीर है, विरला कहीं पर पाय है॥

(६)

नहिं धर्मकी इच्छा जिसे, नहिं अर्थकी है कामना।
नहिं कामकी कांक्षा जिसे, नहिं मोक्षकी है भावना॥
जीना जिसे रुचता नहीं, नहिं मृत्युसे घबराय है।
लाखों करोड़ों मध्यमें, विरला कहीं पर पाय है॥

(७)

करना विलय इस विश्वका रुचिकर जिसे लगता नहीं।
इस विश्वके व्यापारसे जो द्वेष भी करता नहीं॥
यह दीखता भी विश्व जिसकी दृष्टिमें नहिं आय है।
सर्वत्र देखे आप सो, विरला कहीं पर पाय है॥

(८)

कृतकृत्य है निज ज्ञानसे, संतृप्त है विज्ञानसे।
सन्तुष्ट अपने आपमें, नहिं काम कुछ है ध्यानसे॥
सुनता सभीमें आपको है, आपको ही गाय है।
भोला! नहीं ऐसे घने, विरला कहीं पर पाय है॥

सो प्राज्ञ जीवन्मुक्त है ?

(१)

नहिं राग करता भोगमें, नहिं द्वेष करता भोगसे।
नहिं पास जाता योगके, नहिं दूर रहता योगसे॥
नहिं इन्द्रियाँ होतीं विकल, नहिं रक्त है न विरक्त है।
है तृप्त अपने आपमें, सो प्राज्ञ जीवन्मुक्त है॥

(२)

बैठे नहीं, नहिं हो खड़ा, नहिं आँख मीचे, खोलता।
जागे नहीं, सोवे नहीं, चुपका नहीं, नहिं बोलता॥
चेष्टा सभी करता रहे, फिर भी न चेष्टायुक्त है।
निस्संग कर्म अकर्मसे, सो प्राज्ञ जीवन्मुक्त है॥

(३)

सुख-दुःखमें, शीतोष्णमें, सम चित्त रहता है सदा।
क्या मित्रको, क्या शत्रुको, सम देखता है सर्वदा॥
सब वासनाओंसे रहित, निज आत्ममें अनुरक्त है।
सब विश्व देखे ब्रह्ममय, सो प्राज्ञ जीवन्मुक्त है॥

(४)

सुनता हुआ या देखता, छूता हुआ या सूँघता।
लेता हुआ, देता हुआ, जगता हुआ या ऊँघता॥
आता हुआ, जाता हुआ, निज आत्ममें संतृप्त है।
चेष्टा अचेष्टासे रहित, सो प्राज्ञ जीवन्मुक्त है॥

(५)

निन्दा प्रशंसासे रहित, सम सम्पदा सम आपदा।
देता नहीं, लेता नहीं, सम चित्त निर्भय सर्वदा॥
जिसको विषम भासे नहीं, सर्वत्र समतायुक्त है।
मन अमन बालक-सा चलन, सो प्राज्ञ जीवन्मुक्त है॥

(६)

कामिनि उपस्थित देखकर, नहिं क्षोभ मनमें लाय है।
विकराल मृत्यु समीपमें ही देख नहिं घबराय है॥
विह्वल न जिसका हो हृदय, जो धैर्यसे संयुक्त है।
तल्लीन अपने आपमें, सो प्राज्ञ जीवन्मुक्त है॥

(७)

गो, श्वान, गज, चाण्डाल, ब्राह्मण वेदपाठी एक सम।
सर्वत्र समदर्शी सदा, जिसको न कोई बेश-कम॥
सम आत्म सबमें जानकर, रहता सदा समचित्त है।
योगी वही, ज्ञानी वही, सो प्राज्ञ जीवन्मुक्त है॥

(८)

हिंसा कभी करता नहीं, फँसता दयामें भी नहीं।
ऊँचा कभी नहिं शिर करे, नहिं दीन भी होता कहीं॥
विस्मय कभी पाता नहीं, होता न संशययुक्त है।
जगमन्य भोला! धन्य सो ही प्राज्ञ जीवन्मुक्त है॥

सब कर चुका, सब धर चुका

(१)

होता जहाँपर मोह है, भय शोक होते हैं वहाँ।
रहता नहीं जहँ मोह है, भय शोक नहिं आते तहाँ॥
निर्मोह जो नर हो गया, संसारसे सो तर चुका।
करना उसे नहिं शेष है, सब कर चुका, सब धर चुका॥

(२)

आशा करे सो भोगकी, क्यों भोगमें फँस जाय है।
जो द्वेष करता भोगसे, सो भी न छुट्टी पाय है॥
आशा निराशासे छुटा, सो योग सम्यक् कर चुका।
फल ज्ञानका भी पा चुका, सब कर चुका, सब धर चुका॥

(३)

जिस जीवमें हैं वासना, उसके लिये संसार है।
जो जीव है निर्वासना, भवसिन्धुसे सो पार है॥
निर्वासना जो हो गया, सो मोक्ष-पदपर चढ़ चुका।
आनन्द अक्षय लूटता, सब कर चुका, सब धर चुका॥

(४)

ममता नहीं पुत्रादिमें, नहिं देहमें अभिमान है।
सब ब्रह्म है, नहिं अन्य है, ऐसा जिसे दृढ़ ज्ञान है॥
सम्पूर्ण आशा गल गयी हैं, चित्त जिसका मर चुका।
सो जी गया जी, जी गया, सब कर चुका, सब धर चुका॥

(५)

जो वस्तु लेना चाहता है, राग उसको खींचता।
जो छोड़ना है चाहता, तो द्वेष निश्चय ईंचता॥
लेता नहीं, देता नहीं, सो द्वन्द्वसे पर हो चुका।
निर्द्वन्द्वका नहिं कृत्य कुछ, सब कर चुका, सब धर चुका॥

(६)

'मैं हूँ तपोधन, सिद्ध हूँ,' ऐसा नहीं जो मानता।
'मैं मुक्त हूँ,' 'मैं युक्त हूँ,' यह भी नहीं जो जानता॥
अभिमान जिसका छुट गया, माया किला सर कर चुका।
स्वाराज्य अपना पा चुका, सब कर चुका, सब धर चुका॥

(७)

आकाश घटके बाह्य है, आकाश घट भीतर यथा।
है ब्रह्म सबके देहमें बाहर बसा भीतर तथा॥
सो ब्रह्म हूँ मैं आप ही, दृढ़ धारणा जो कर चुका।
कैवल्य पद सो पा चुका सब कर चुका, सब धर चुका॥

(८)

ज्यों एक ही रवि विश्वभरमें है उजाला कर रहा।
ब्रह्माण्डभरको भासता त्यों ब्रह्म सबमें भर रहा॥
सो ब्रह्म मेरा आत्म है, यह भाव जिसमें भर चुका।
भोला! हुआ भरपूर सो, सब कर चुका, सब धर चुका॥

भय शोक सब भग जाय है।

(१)

जब बोध-रवि होता उदय, अज्ञान-तम हट जाय है।
संसार स्वप्ना होय है, भ्रम-भेद सब मिट जाय है॥
तब मोह-निद्रा त्यागकर, स्व-स्वरूपमें जग जाय है।
होता मुमुक्षू है सुखी, भय दुःख सब भग जाय है॥

(२)

सुत दार आदिक हों घने, पुष्कल भले धन पाइये।
बहु भाँति भोगन भोगिये, सम्राट भी बन जाइये॥
जबतक न होवे त्याग सम्यक् हाथ सुख नहिं आय है।
जब त्याग सम्यक् होय है, भय शोक सब भग जाय है॥

(३)

कर्तव्य जलती आग है, सबको जलाती है यही।
सो वृक्ष कैसे हो हरा, हो आग जिसमें लग रही॥
कर्तव्यसे छुट जाय सो, इस आगसे बच जाय है।
पीयूष-धारा नित पिये, भय शोक सब भग जाय है॥

(४)

भव भावनाका है बना, किञ्चित् नहीं परमार्थ है।
अध्यस्त है यह विश्व केवल ब्रह्म तत्त्व यथार्थ है॥
संकल्प जब मिट जाय है, यह विश्व सब उड़ जाय है।
सुखरूप ही रह जाय है, भय शोक सब भग जाय है॥

(५)

आत्मा सदा ही प्राप्त है, नहिं दूर है, नहिं पास है।
नहिं आत्म पानेके लिये, करना पड़े आयास है॥
संकल्प देता छोड़ जो, सो आपमें टिक जाय है।
जब आप अपना पाय है, भय शोक सब भग जाय है॥

(६)

व्यामोहका परदा पड़ा, सो आत्मसुखमें आड़ है।
व्यामोह तिलकी ओटने, ढक लीन आत्म पहाड़ है॥
व्यामोह परदा जाय हट, तब मर्म सब खुल जाय है।
बे-ओट सुख है दीखता, भय शोक सब भग जाय है॥

(७)

यह विश्व सब है कल्पना, आत्मा सदा ही मुक्त है।
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, होता न संशययुक्त है॥
जो धीर संशयमुक्त है, सो बोध सम्यक् पाय है।
रहता सदा ही शान्त है, भय शोक सब भग जाय है॥

(८)

चिन्मात्र केवल ब्रह्म है, संसार जड़ है कल्पना।
चैतन्य जड़ नहिं मिल सकें, भवकी नहीं सम्भावना॥
ऐसे विवेकी जानकर, निष्काम हो सुख पाय है।
भोला! अकामी धीरका, भय शोक सब भग जाय है॥

उस-सा सुखी क्या अन्य है ?

(१)

'मैं हूँ यही, मैं वह नहीं,' ऐसी न करता कल्पना।
'सर्वात्म है, नहिं अन्य है,' ऐसी जिसे दृढ़ भावना॥
योगी महा, मौनी महा, संकल्पसे मन शून्य है।
चौदह भुवन तिहुँ लोकमें, उस-सा सुखी क्या अन्य है ?

(२)

विक्षेप जिसमें है नहीं, जिसमें नहीं एकाग्रता।
अति बोध जिसको है नहीं, जिसमें नहीं है मूढ़ता॥
उपशान्ततम, सुख-दुःख सम, शीतोष्ण माँहि प्रसन्न है।
ऋषि,मुनि,मनुजमें,देवमें,उस-सा सुखी क्या अन्य है ?

(३)

स्वाराज्य भिक्षावृत्ति दोनों एक-सी जो जानता।
नहिं लाभ और अलाभमें है भेद रंचक मानता॥
जन वन जिसे हैं एक-से, होता कभी नहिं खिन्न है।
क्रीड़ा करे निज आत्ममें, उस-सा सुखी क्या अन्य है ?

(४)

नहिं कामसे कुछ काम है, नहिं धर्मसे कुछ वासता।
नहिं अर्थसे है अथ कुछ, नहिं मोक्ष ही है चाहता॥
करने न करनेसे पृथक्, निज आत्ममें संलग्न है।
निर्द्वन्द्व है, स्वच्छन्द है, इस-सा सुखी क्या अन्य है ?

(५)

कर्तव्य नहिं संसारमें, मनमें नहीं अनुराग है।
लेना जिसे कुछ है नहीं, करना न कुछ भी त्याग है॥
इच्छा अनिच्छासे रहित, प्रारब्धके स्वाधीन है।
सब कुछ करे,कुछ नहिं करे,उस-सा सुखी क्या अन्य है?

(६)

रंचक न जिसमें मोह है, नहिं विश्वका जिसको पता।
चिन्तन कभी करता नहीं, नहिं जानता है मुक्तता॥
संकल्प सीमासे परे, शिव रूप एक अनन्य है।
नहिं भेद जिसको भासता,उस-सा सुखी क्या अन्य है?

(७)

जो विश्वको ही देखता, सो विश्वको लय भी करे।
किसका करे सो लय भला, नहिं विश्व ही जिसको फुरे॥
देखे नहीं है देखता भी, वासना सब छिन्न है।
उस सम धनी कोई नहीं,उस-सा सुखी क्या अन्य है?

(८)

जो ब्रह्मको ही देखता, 'मैं ब्रह्म हूँ' चिन्तन करे।
जब द्वैत ही नहिं देखता, चिन्तन करे फिर क्या सरे?
चिन्तन रहित जो धीर है, सो धन्य है जगमन्य है।
भोला! सुखी है एक सो, उस-सा सुखी क्या अन्य है?

करना उसे क्या शेष है।

(१)

विक्षेप मनका जिस पुरुषके देखनेमें आय है।
करता वही मन रोकनेको, शम दमादि उपाय हैं॥
जिस प्राज्ञ नरकी दृष्टिमें, नहिं द्वैत भासे लेश है।
विक्षेप ही होता नहीं, करना उसे क्या शेष है?

(२)

संसारके विक्षेपसे जो धीर सम्यक् मुक्त है।
करता हुआ सब कार्य भी, होता न कर्मासक्त है॥
इच्छा समाधीकी नहीं, विक्षेपसे नहिं द्वेष है।
सम विषम जिसको एक सम, करना उसे क्या शेष है?

(३)

मनमें नहीं है वासना, आनन्दसे भरपूर है।
निन्दा प्रशंसासे रहित, तिहुँ एषणासे दूर है॥
नहिं मानसे अपमानसे पाता कभी जो क्लेश है।
निश्चिन्त है, निर्द्वन्द्व है, करना उसे क्या शेष है?

(४)

निष्कर्म नहिं, नहिं कर्म है, नहिं हेय, नहिं आदेय है।
प्रारब्ध-वश आ जाय जो, सुखसे उसे कर लेय है॥
नहिं राग जिसको कर्ममें, निष्कर्ममें नहिं द्वेष है।
स्वच्छन्द है, सविवेक है, करना उसे क्या शेष है?

(५)

निर्वासना, आलम्ब बिनु, सब बन्धनोंसे मुक्त है।
आशा-निराशा-हीन, केवल आपमें आसक्त है॥
सूखे हुए तरु पातका, जैसे न निश्चित देश है।
निश्चित नहीं जिसकी क्रिया, करना उसे क्या शेष है?

(६)

संसार सब निस्सार हैं, परमात्म केवल सार है।
संसारसे है मुक्त, जिसका आत्म ही आधार है॥
ब्रह्माण्ड भर है देश, जिसकी दृष्टिमें न विदेश है।
निष्काम आत्माराम है, करना उसे क्या शेष है?

(७)

करना रमण निज आत्ममें हैं, चित्त शीतल स्वच्छ है।
इन्द्रादिकी पदवी मिले तो भी समझता तुच्छ है॥
क्या स्वर्गमें क्या नरकमें, जिसके लिये न विशेष है।
सर्वत्र समता देखता, करना उसे क्या शेष है?

(८)

प्रारब्ध-वश चेष्टा करे, संकल्पसे मन शून्य है।
हाथी चढ़े, पैदल फिरे, नहिं है अधिक नहिं न्यून है॥
सब वेप जिसके वेप या कोई न जिसका वेष है।
भोला! सभी सो कर चुका, करना उसे क्या शेष है?

सो धीर शोभा पाय है।

(१)

श्रुति-वाक्य सुनकर मूढ कोई तो न श्रद्धा लाय है।
कोई समझनेको उसे मन रोकनेको जाय है॥
मनमें विवेकी धीरके, श्रुतिवाक्य झट आ जाय है।
होता तुरत ही है सुखी, सो धीर शोभा पाय है॥

(२)

देहेन्द्रियाँ मन कर्म करते, मैं कभी करता नहीं।
आता नहीं, जाता नहीं, चलता नहीं, फिरता नहीं॥
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, निर्लेप सो हो जाय है।
निर्लेप हो, निष्पाप हो, सो धीर शोभा पाय है॥

(३)

आत्मा अनात्मा जानता, तत्त्वज्ञ है, मर्मज्ञ है।
ज्यों अज्ञ करता कार्य सब, होता न फिर भी अज्ञ है॥
करता हुआ व्यवहार भी, व्यवहारमें नहिं आय है।
निस्संग रहता है सदा, सो धीर शोभा पाय है॥

(४)

चिन्ता अचिन्तासे रहित, निज आत्ममें विश्राम है।
नहिं रूप किञ्चित् देखता, सुनता न कोई नाम है॥
नहिं सोचता नहिं जानता, करता न कुछ करवाय है।
अभिमान जिसका जल गया, सो धीर शोभा पाय है॥

(५)

करता समाधी है नहीं, जिसमें नहीं विक्षेप है।
नहिं मोक्ष ही है चाहता, रहता सदा निर्लेप है॥
सब विश्व कल्पित जानकर, नहिं चित्तको भटकाय है।
संलग्न रहता आपमें, सो धीर शोभा पाय है॥

(६)

होता जिसे अभिमान है, सो नहिं करे तो भी करे।
अभिमानसे जो शून्य है, करता हुआ भी नहिं करे॥
अभिमानसे जो मुक्त है, सब कुछ करे करवाय है,
फिर भी नहीं कुछ भी करे, सो धीर शोभा पाय है॥

(७)

'चेष्टा करूँ' 'बैठा रहूँ,' उठता न यह संकल्प है।
जो आय है सो लेय कर, नहिं चित्तमाँहि विकल्प है॥
निज आत्ममें निश्चल रहे नहिं क्षोभ मनमें लाय है।
करता हुआ भी नहिं करे, सो धीर शोभा पाय है॥

(८)

उद्विग्न मन होता नहीं, सन्तुष्ट भी होता नहीं।
निःशोक है, निर्मोह है, हँसता नहीं, रोता नहीं॥
करता रहे है देहसे, मनमें न हलचल आय है।
भोला! जहाँ होवे तहाँ, सो धीर शोभा पाय है॥

मरसे अमर हो जाय है ।

(१)

साधन करे बहु भाँतिके, देहाभिमानी मूढ़ नर ।
एकाग्र मन होता नहीं, भागै इधरसे है उधर ॥
नर धीर नश्वर भोगमें, मन ही नहीं भटकाय है ।
अमरात्ममें मनको लगा, मरसे अमर हो जाय है ॥

(२)

जबतक न जाने तत्त्वको, कोई सुखी होता नहीं ।
मन होय वश अथवा नहीं, सुखसे कभी सोता नहीं ॥
जो जान लेता तत्त्वको, संसारसे सो जाय है ।
होता तुरत ही है सुखी, मरसे अमर हो जाय है ॥

(३)

आत्मा अमर, परिपूर्ण है अक्षय निरामय तत्त्व है ।
शिव शुद्ध है, अज बुद्ध है, संसार यह निस्तत्त्व है ॥
ऐसा विवेकी जानकर, निश्चिन्त हो सुख पाय है ।
निज आत्ममें संतृप्त हो, मरसे अमर हो जाय है ॥

(४)

हो मोक्ष नाहीं कर्मसे, श्रम लाख बार उठाइये ।
ऊँचे कभी चढ़ जाइये, नीचे कभी गिर जाइये ॥
नर धीर नश्वर कर्ममें, नहिं व्यर्थ दुःख उठाय है ।
क्षण मात्रके विज्ञानसे, मरसे अमर हो जाय है ॥

(५)

जो ब्रह्म होना चाहता, नहिं प्राप्त होता ब्रह्मको।
जो होय इच्छासे रहित, सो तुरत पाता ब्रह्मको॥
निष्काम आत्माराम नर, झट ब्रह्म दर्शन पाय है।
तल्लीन होकर ब्रह्ममें, मरसे अमर हो जाय है॥

(६)

संसार पोषक मूढ़ जन, श्रुति वाक्यके आधार बिन।
करते हजारों यत्न हैं, छुटता नहीं संसार-वन॥
नर धीर सद्गुरु वाक्यपर, विश्वास पक्का लाय है।
संसारकी जड़ काटकर, मरसे अमर हो जाय है॥

(७)

जो मूढ़ चाहे शान्तिको, सो मूढ़ शान्ति न पाय है।
अभ्यास करनेसे न सम्यक् शान्ति मनमें आय है॥
त्यागी विवेकी प्राज्ञ नर, नहिं भोगमें ललचाय है।
निर्णय तुरत कर तत्त्वका, मरसे अमर हो जाय है॥

(८)

जो सत्य माने दृश्य, उसको आत्मदर्शन हो कहाँ?
मिथ्या जहाँ जग हो गया, आत्मा यहाँ आत्मा वहाँ॥
परिपूर्ण सबमें भासता, भ्रम भेद सब मिट जाय है।
भोला! मिटा भ्रमभेद जहँ, मरसे अमर हो जाय है॥

साम्राज्य अविचल पाय है।

(१)

देहाभिमानी मूढ़का नहिं होय चित्त निरोध है।
जबतक न होवे चित्त थिर, होता न सम्यक् बोध है॥
तत्त्वज्ञ स्वात्मारामका, थिर चित्त झट हो जाय है।
होता सहज ही शान्त सो, साम्राज्य अविचल पाय है॥

(२)

जग सत्य कोई मानता है, शून्य कोई मानता।
लाखों करोड़ों मध्य विरला तत्त्वको पहिचानता॥
जो ब्रह्मको है जानता, सो ब्रह्म ही हो जाय है।
नहिं गर्भमें फिर आय है, साम्राज्य अविचल पाय है॥

(३)

संसार-पोपक मूढ़ नर, चिन्तन करे है तत्त्वका।
नहिं तत्त्वको है जानता, नहिं मोह जाता चित्तका॥
नर धीर संशयसे रहित, कुछ भी न मनमें ध्याय है।
चिन्तन रहित हो जाय सो, साम्राज्य अविचल पाय है॥

(४)

आधार बिन होता नहीं, जो मोक्षको है चाहता।
जबतक न हो आधार बिन, नहिं तत्त्व तबतक पावता॥
निष्काम आलम्बन रहित, स्व-स्वरूपमें टिक जाय है।
स्व-स्वरूपमें टिक जाय सो, साम्राज्य अविचल पाय है॥

(५)

शब्दादि व्याधन देखते ही मूढ़ नर भय खाय है।
एकाग्रताको सिद्ध करने, घुस गुहामें जाय है॥
नर धीर विषयन देखकर, किञ्चित् नहीं भय खाय है।
ऐसा विवेकी सहज ही, साम्राज्य अविचल पाय है॥

(६)

निर्वासना नर-केसरीको, दूरसे ही देखकर।
हाथी विषय भग जायँ हैं, कोई इधर कोई उधर॥
ज्ञानी विषय है भोगता, वशमें न उनके आय है।
रहता सदा निर्लेप सो, साम्राज्य अविचल पाय है॥

(७)

निःशंक निश्चल चित्त योगी यत्न कुछ करता नहीं।
स्वाभाविकी सारी क्रिया, होती रहे हैं आप ही॥
सुखसे सुने, देखे, छुवे सूँघे सहज ही खाय है।
ऐसा विरागी प्राज्ञ नर, साम्राज्य अविचल पाय है॥

(८)

मन शुद्ध निर्मल बुद्धि नर, नहिं ध्याय है न विचारता।
वेदान्त सुननेमात्रसे ही, तत्त्वको निर्धारता॥
मनवृत्ति ब्रह्माकार जिसकी, अन्य जो नहिं ध्याय है।
भोला! नहीं सन्देह सो, साम्राज्य अविचल पाय है॥

है जन्म उसका ही सफल ।

(१)

शुभ या अशुभ हो कार्य जो, जिस कालमें आ जाय है।
आग्रह बिना कर लेय है, नहिं सोच मनमें लाय है ॥
चेष्टा करे सब बाल ज्यों, नहिं इन्द्रियाँ होतीं विकल।
नहिं राग हो नहिं द्वेष हो, है जन्म उसका ही सफल ॥

(२)

निर्द्वन्द्व सुख है भोगता, निर्द्वन्द्व पाता ज्ञान है।
निर्द्वन्द्व पाता नित्य सुख, पाता वही विज्ञान है ॥
निर्द्वन्द्व होता है अचल, निर्द्वन्द्व होता है अटल।
निर्द्वन्द्व नर हो जाय जो, है जन्म उसका ही सफल ॥

(३)

कर्तापना भोक्तापना, जो आत्ममें नहिं मानता।
मन-वृत्तियाँ सब क्षीण होतीं, आत्मको पहिचानता ॥
मन वृत्ति जिसकी क्षीण हों, अंतःकरण होवे विमल।
सो ही सुखी है विश्वमें, है जन्म उसका ही सफल ॥

(४)

मानी तथा कामी जनोंका, चित्त रहता भ्रान्त है।
निर्द्वन्द्व निष्कामी पुरुष, रहता सदा ही शान्त है ॥
निस्संगतासे वर्तता, जलमें रहे जैसे कमल।
ज्ञानी अमानी धन्य सो, है जन्म उसका ही सफल ॥

(५)

ममता नहीं पुत्रादिमें, नहि देहमें अभिमान है।
आसक्ति विषयोंमें नहीं है, लाभ हानि समान है॥
है मान अरु अपमान सम, व्यवहार है सीधा सरल।
नहिं लेश जिसमें दंभ छल, है जन्म उसका ही सफल॥

(६)

श्रोत्रीय ब्राह्मण देवता या तीर्थका सेवन करे।
देवांगना, राजा तथा पुत्रादिका दर्शन करे॥
मनमें उठे नहिं वासना, ज्यों कूट जो रहता अचल।
त्यागी भले ही हो गृही, है जन्म उसका ही सफल॥

(७)

सेवक तथा पुत्रादिके उपहाससे धिक्कारसे।
मनमें न जिसके खेद हो, नहिं हर्ष होवे प्यारसे॥
रह जो सदा ही एक सा, आवे न जिसमें हल न चल।
सो वीर है, सो धीर है, है जन्म उसका ही सफल॥

(८)

हँसता हुआ हँसता नहीं, रोता हुआ रोता नहीं।
जगता हुआ जगता नहीं, सोता हुआ सोता नहीं॥
ऊपर विषादी भासता, भीतर वही है चल विचल।
भोला! वही है जी रहा, है जन्म उसका ही सफल॥

भवसिन्धुसे सो पार है।

(१)

सर्वत्र आत्मा देखता, आकारसे जो हीन है।
अभिमान भी करता नहीं, होता न किञ्चित् दीन है॥
संकल्प करता है नहीं, नहिं आय चित्त विकार है।
होता न उसका नाश है, भव-सिन्धुसे सो पार है॥

(२)

नर अज्ञ नहिं करता हुआ भी कर्म, होता व्यग्र है।
करता हुआ भी नहिं करे, सो ज्ञानियोंमें अग्र है॥
निज रूपमें संलग्न मन, होता न विषयाकार है।
दीखे भले संसारमें, भव-सिन्धुसे सो पार है॥

(३)

आनन्दसे है बैठता, आनन्दसे सोजाय है।
आनन्दसे बाहर फिरे, आनन्दसे घर आय है॥
आनन्दका आचार है, आनन्दका व्यवहार है।
भोजन करे सुख शान्तिसे, भव-सिन्धुसे सो पार है॥

(४)

करता हुआ व्यवहार सब, मनमें न लाता क्षोभ है।
गम्भीर सागरकी तरह, रहता सदा निर्क्षोभ है॥
सब क्लेश मनके गल गये हैं, चित्त ब्रह्माकार है।
निर्वैर प्यारा सर्वका, भव-सिन्धुसे सो पार है॥

(५)

नर अज्ञ विषय न त्यागता, फिर भी रहे आसक्त है।
नर प्राज्ञ विषय न भोगता, होता न विषयासक्त है॥
कर्तार ईश्वर मानता, बनता नहीं कर्तार है।
निर्लेप करता है क्रिया, भव-सिन्धुसे सो पार है॥

(६)

देहाभिमानी मूढ नर, धन धामसे है भागता।
सुख प्राप्त करनेके लिये, पुत्रादिको है त्यागता॥
नहिं राग ही, नहिं त्याग ही, नर धीरको दरकार है।
आशा पिशाचीसे छुटा, भव-सिन्धुसे सो पार है॥

(७)

क्या सत्य है, क्या है असत्, सन्देह करता अज्ञ है।
यह सत्य है, यह है असत्, जाने भलीविधि विज्ञ है॥
जो तत्त्वको है जानता, ढोता नहीं भव-भार है।
देखे तमाशा विश्वका, भव-सिन्धुसे सो पार है॥

(८)

कर्तापना, भोक्तापना, सब देहका व्यापार है।
आत्मा सदा निर्लेप है, करता न कुछ व्यवहार है॥
जिस प्राज्ञका आरम्भ सब, प्रारब्धके अनुसार है।
भोला! वही तत्त्वज्ञ है, भव-सिन्धुसे सो पार है॥

सो धन्य है, सो मन्य है।

(१)

जो देखता सुनता हुआ, छूता हुआ या सूँघता।
खाता हुआ, पीता हुआ, जगता हुआ या ऊँघता॥
समबुद्धि रहता है सदा, होता नहीं मन खिन्न है।
सो धीर है, सो वीर है, सो धन्य है, सो मन्य है॥

(२)

जो धीर नर आकाश सम, रहता सदा निर्लेप है।
होता किसी भी कालमें, जिसको नहीं विक्षेप है॥
साधन सभी सो कर चुका, करना उसे नहिं अन्य है।
तत्वज्ञ सो, मर्मज्ञ सो, सो धन्य है, सो मन्य है॥

(३)

सम्पूर्ण विषयन त्यागकर, जो ब्रह्ममें है लग रहा।
संसारसे है सो रहा, निज आत्ममें है जग रहा॥
आनन्द अक्षय भोगता, जो नित्य एक अनन्य है।
योगी वही, ज्ञानी वही, सो धन्य है, सो मन्य है॥

(४)

जो आप अपना जान करके आपमें ही मग्न है।
संतृप्त अपने आपमें है, आपमें संलग्न है॥
बस्ती बुरी लगती नहीं, रुचता नहीं आरण्य है।
सो शुद्ध है सो बुद्ध है, सो धन्य है, सो मन्य है॥

(५)

महदादि जितना है जगत्, केवल कथन ही मात्र है।
किञ्चित् यहाँ नहिं द्वैत है, अद्वैत है, चिन्मात्र है॥
चिन्मात्र सो मैं आप हूँ, मुझसे नहीं सो भिन्न है।
ऐसा जिसे विश्वास है, सो धन्य है, सो मन्य है॥

(६)

भ्रममात्र सारा विश्व है, परमार्थसे कुछ भी नहीं।
शिव तत्त्व, शाश्वत नित्य, फुरणामात्र ही है, हर कहीं॥
प्रज्ञानघन, आनन्दघन, अद्वैत एक अजन्य है।
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, सो धन्य है, सो मन्य है॥

(७)

अभ्यास सो नर कर चुका, वैराग्य भी सो कर चुका।
कीन्हा श्रवण भी मनन भी, अरु ध्यान भी सो धर चुका॥
जिस धीरको यह ज्ञान है, ब्रह्मात्म प्रत्यगभिन्न है।
नहिं शेष उसको जानना, सो धन्य है, सो मन्य है॥

(८)

बहु रूपसे है भासता, निज आत्मको पहिचानता।
देहादिमें नहिं दृष्टि दे, सब दृश्य मिथ्या मानता॥
सो युक्त है, सो मुक्त है, सो ब्रह्म है, ब्रह्मण्य है।
भोला ! सभी सो पा चुका, सो धन्य है, सो मन्य है॥

अवधूत किसका नाम है ?

(१)

ले देहसे मन बुद्धि तक, संसार जो है भासता।
सो सर्व माया मात्र है, किञ्चित् नहीं परमार्थता॥
ममता अहंतासे रहित, जो प्राज्ञ नर निष्काम है।
माया अविद्यासे परे, अवधूत उसका नाम है॥

(२)

अक्षय निरामय तत्त्व ही, सब विश्वमें भरपूर है।
सो तत्त्व सबका आप है, नहिं पास है, नहिं दूर है॥
विद्या नहीं, नहिं विश्व ही, नहिं देहका कुछ काम है।
सर्वात्म ही है देखता, अवधूत उसका नाम है॥

(३)

मतिमन्द अति आयाससे, मनको करे एकाग्र है।
एकाग्रता छूटी जहाँ, होने लगे मन व्यग्र है॥
जो द्वैत है नहिं देखता, निश्चिन्त्य आत्माराम है।
निरपेक्ष है, निर्द्वन्द्व है, अवधूत उसका नाम है॥

(४)

नर मूढ़ सुनकर तत्त्वको भी, मूढ़ता नहिं त्यागता।
आसक्त रहता भोगमें, नहिं योगमें है लागता॥
आत्मानुरागी धीर जिसको भोगसे उपराम है।
है योग उसको सिद्ध ही, अवधूत उसका नाम है॥

(५)

ज्ञानाग्नि सम्यक् बालकर, सब कर्म दीन्हें हैं जला।
निज तत्त्वको है जानता, ज्यों हाथमें हो आँवला॥
करता रहे है कर्म सब, फिर भी न करता काम है।
आकाश सम निर्लेप है, अवधूत उसका नाम है॥

(६)

जिस निर्विकारी धीरमें, नहिं हर्ष है, न विषाद है।
नहिं काम है, नहिं क्रोध है, नहिं लोभ है, न प्रमाद है॥
नहिं ग्राह्य है, नहिं त्याज्य है, नहिं दण्ड है, नहिं साम है।
नहिं पिण्ड, नहिं ब्रह्माण्ड ही, अवधूत उसका नाम है॥

(७)

जिसमें नहीं कर्तापना, भोक्तापना, गम्भीरता।
निर्भयपना, ज्ञानीपना, दानीपना, अरु धीरता॥
मन धर्म सारे छोड़कर, निज आत्ममें विश्राम है।
नहिं भेद जिसको भासता, अवधूत उसका नाम है॥

(८)

नहिं स्वर्ग है, नहिं है नरक, नहिं लोक नहिं परलोक है।
नहिं वेद है, नहिं वेद्य है, नहिं बन्ध है, नहिं मोक्ष है॥
नहिं विष्णु है, नहिं रुद्र है, नहिं ब्रह्म है, नहिं आत्म है।
भोला ! नहीं श्रुति कह सके, अवधूत उसका नाम है॥

अवधूतकी पहिचान क्या ?

(१)

नहिं लाभकी इच्छा करे, नहिं हानिकी चिन्ता करे।
जीवन नहीं है चाहता, नहिं मृत्युसे किञ्चित् डरे॥
संतृप्त अपने आपमें, सम मान अरु अपमान है।
सम मित्र है, सम शत्रु, यह अवधूतकी पहिचान है॥

(२)

निन्दा करे नहिं दुष्टकी, पूजा करे नहिं शिष्टकी।
चिन्ता करे न अनिष्टकी, इच्छा करे नहिं इष्टकी॥
सुख दुःख दोनों एक सम हैं, स्वर्ण रेत समान है।
भ्रम-भेदसे अति दूर, यह अवधूतकी पहिचान है॥

(३)

संसारसे नहिं द्वेष है, निज दर्शकी नहिं आस है।
संसार तो है ही नहीं, जो आप है, सो पास है॥
सर्वत्र आत्मा भासता, नहिं दूसरेका भान है।
विद्या-अविद्या-मुक्त, यह अवधूतकी पहिचान है॥

(४)

पुत्रादिमें नहिं नेह है, देहादिमें नहिं राग है।
इच्छा नहीं है भोगकी, निज आत्ममें अनुराग है॥
ज्ञाता नहीं, नहिं ज्ञेय है, भासे जिसे नहिं ज्ञान है।
त्रिपुटी रहित परिपूर्ण, यह अवधूतकी पहिचान है॥

(५)

मिल जाय सो पी लेय है, आ जाय सो खा लेय है।
जो प्राप्त हो सो भोगता, नहिं लेय है, नहिं देय है॥
सन्तुष्ट मन, शीतल हृदय, गम्भीर धीर महान है।
निरपेक्ष, आत्माराम, यह अवधूतकी पहिचान है॥

(६)

यह देह जावे या रहे, तत्त्वज्ञ नहिं चिन्ता करे।
जो आय है, सो जाय है, फिर सोच क्यों किसका करे॥
आत्मा नहीं हैं इन्द्रियाँ, आत्मा नहीं मन प्राण है।
जाने इन्हें निस्तत्त्व, यह अवधूतकी पहिचान है॥

(७)

निज आत्ममें करता रमण, संशय कभी करता नहीं।
देखे तमाशा विश्वका, शिर बोझ है धरता नहीं॥
कल्याण सबका चाहता, अपना किया कल्याण है।
निर्द्वन्द्व है, स्वच्छन्द यह अवधूतकी पहिचान है॥

(८)

ममता अहंतासे रहित, कर्तापना, भोक्तापना।
सर्वज्ञता अल्पज्ञता, सब जानता है कल्पना॥
भोला नहीं, ज्ञानी नहीं, नहिं ज्ञान नहिं अज्ञान है।
चिन्मात्र, संवित-शुद्ध, यह अवधूतकी पहिचान है॥

वैसा हि विरला जानता ।

(१)

सम्पूर्ण विषयोंसे विमुख, मनमें न रञ्चक वासना ।
सुख-सिन्धुमें मन मग्न है, जो आशका है दास ना ॥
ब्रह्मादिकोंके भोगको भी तुच्छ तृण सम मानता ।
ऐसे विरागी धीरको, वैसा हि विरला जानता ॥

(२)

नहिं देखता भी देखता, नहिं बोलता भी बोलता ।
नहिं जानता भी जानता, नहिं डोलता भी डोलता ॥
अभिमान करता भी कभी, करता नहीं अभिमानता ।
ऐसे अमानी सन्तको, वैसा हि विरला जानता ॥

(३)

स्वच्छन्द भी परतन्त्र है, परतन्त्र भी स्वच्छन्द है ।
करता हुआ कर्ता नहीं, द्वन्द्वों सहित निर्द्वन्द्व है ॥
करता रहे आरम्भ भी, आरम्भ नहिं है ठानता ।
ऐसे परम गम्भीरको, वैसा हि विरला जानता ॥

(४)

आत्मा-सुधाका पान करके तृप्त है जो हो गया ।
नानापना है मिट गया, संसार जिसका खो गया ॥
विक्षिप्त-सा है दीखता, जिसमें नहीं अज्ञानता ।
ऐसे विवेकी भूपको, वैसा हि विरला जानता ॥

(५)

सोता हुआ सोता नहीं, नहिं स्वप्नमें भी शयन है।
जगता हुआ, जगता नहीं, वेचैनमें भी चैन है॥
किञ्चित् न रखता पास, फिर भी पूर्ण है श्रीमानता।
ऐसे अनोखे सेठको, वैसा हि विरला जानता॥

(६)

चिन्ता-सहित है दीखता, फिर भी न चिन्तायुक्त है।
मन बुद्धिवाला भासता, मन बुद्धिसे निर्मुक्त है॥
दीखे भले ही खिन्न, पर जिसमें नहीं है खिन्नता।
गम्भीर ऐसे धीरको, वैसा हि विरला जानता॥

(७)

नहिं है सुखी, नहिं है दुखी, रागी नहीं, न विरक्त है।
साधक नहीं, नहिं सिद्ध ही, नहिं बद्ध है, नहिं मुक्त है॥
किञ्चन अकिञ्चन भी नहीं, नहिं शून्यता, नहिं पूर्णता।
ऐसे निराले पूर्णको, वैसा हि विरला जानता॥

(८)

भिक्षुकपने राजापनेमें, मानता नहिं भेद है।
संसार मिथ्या स्वप्न है, ऐसा समझ विनु खेद है॥
शोभन अशोभन एक सम भोला चतुर सम मानता।
ऐसे अकथ अवधूतको, वैसा हि विरला जानता॥